# कर्म के दस्तावेज

नीतेश गुप्ता

BlueRose ONE.com
Stories Matter
NewDelhi • London

**BLUEROSE PUBLISHERS**
India | U.K.

Copyright © Nitesh Gupta 2026

All rights reserved by author. No part of this publication may be reproduced, stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means, electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the prior permission of the author. Although every precaution has been taken to verify the accuracy of the information contained herein, the publisher assumes no responsibility for any errors or omissions. No liability is assumed for damages that may result from the use of information contained within.

BlueRose Publishers takes no responsibility for any damages, losses, or liabilities that may arise from the use or misuse of the information, products, or services provided in this publication.

BlueRose ONE.com
Stories Matter
NewDelhi • London

For permissions requests or inquiries regarding this publication, please contact:

BLUEROSE PUBLISHERS
www.BlueRoseONE.com
info@bluerosepublishers.com
+91 8882 898 898
+4407342408967

ISBN: 978-93-7542-414-7

Cover design: Aafiya Saifi
Typesetting: Namrata Saini

First Edition: July 2026

# समर्पित

धर्म के दो हेतु हैं, पहला अभ्युदय और दूसरा नि:श्रेयस। अभ्युदय का अर्थ सांसारिक उत्कर्ष है और नि:श्रेयस का अर्थ कल्याण, भक्ति या मोक्ष जो हमें परिणाम में मिलता है। सांसारिक उत्कर्ष से हम अपने सामर्थ के अनुसार अपनी ऊर्जा को लोक कल्याण के साथ जुड़ते हैं, परिणाम मिल जाता है। जिन लोगों ने अपने सामर्थ के अनुसार मानव सेवा की, मानव को सही राह चुनने की प्रेरणा दी उन सभी को यह पुस्तक समर्पित है। साथ ही उस प्रभु एवं प्यारी माँ को भी समर्पित है जिसने मुझे उत्साह एवं सहारा दिया।

**नीतेश गुप्ता**

# प्राक्कथन

जो लोग जीवन में कुछ बड़ा करते है चाहे वह अमीर बनना हो, व्यवसाय शुरु कर उसे सफलता की ऊँचाईयों पर चलाना हो या अपनी शर्तों पर जीवन जीना हो, सभी में एक चीज समान होती है वह है आत्म-अनुशासन। अनुशासन को बहुत लोग सजा समझते है परन्तु यह स्वयं को आदेश देने और पालन करने की क्षमता है। एक अनुशासित व्यक्ति जो चाहता है पा लेता है। अनुशासन की कमी लगातार अभ्यास से विकसित किया जा सकता है। हमें जो कुछ नापसंद है उसे नहीं करनी चाहिए। यदि हम सफल लोगों को देखें तो नोटिस करेंगे कि वे वो काम करते है, जो अन्य लोग नहीं करते।

कबीर दास ने ठीक कहा हैः

करत करत अभ्यास अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।

रसरी आवत जात ते, सिल पर परत निशान।।

(कुएँ की जगत के पत्थर पर बार बार रस्सी के आने जाने से रगड़ के निशान बन जाते है, उसी प्रकार लगातार अभ्यास से अल्पबुद्धि या जङमति भी बुद्धिमान और सुजान बन सकती है।

दुनिया की दशा पर विचारक और राजनेता अक्सर बहस करते है। परन्तु सवाल हमेशा सर उठाए पूछता है बदलाव हो तो कैसे? सार्थक वदलाव के लिये पढना, शिक्षा

ग्रहण करना, देश, नागरिक, समाज, प्रकृति के हर अंश को अपनी प्राथमिकता बनानी चाहिए।

अखबार पढ़ने वाले पाठक के लिए कुछ पंक्तियाँ एक खबर भर हो सकती है लेकिन सामाजिक उत्थान के लिए बिताये जिंदगी के लम्हें बहुत कुछ बयान करती है। जिन्दगी के जद्दोजहद से पार कर, निखर कर जब मनुष्य मानवता का सहारा बनता है तो बहुत कुछ देता है, सीखने को मिलता है। कोई अपने जीवन को दाँव पर लगाकर मानव कल्याण के रास्ते बनाता है तो कोई  धर्म गुरु ज्ञान देकर धर्म के रास्ते अपना कर जीवन सफल बनाने की गुहार लगाते हैं। ये सभी बातें हमारे जीवन को अच्छाई, इमानदारी से जीने की राह बार-बार याद दिलाती है, कहती है। यही रास्ता हमारे परिवर्तन, जीने की राह, जीवन मुक्ति का साधन है। जिसने यह जीने की कला सीखी उसने नाम कमाया, मनुष्य के लिए एक ऐसा मिशाल बन गया जिसे हम बार बार याद कर सीख लेते रहते है।

मैं हिन्दुस्तान अखबार के हिन्दी अंक का अनवरत पाठक हूँ। इस अखबार में रविवार की प्रति कुछ लोगों के जीवन के जद्दोजहद का बयान करती है। कुछ लोगो ने कैसे मानव जीवन को जीने की राह बताई है, कुछ ने ऐसा किया जिससे मानवीय सुख-सुविधा की प्राप्ति हुई। मैं उन सभी लेखों को संकलित कर बिना किसी बदलाव के पहली किताब कर्म के दस्तावेज आपके समक्ष लाने की कोशिश की है। अधिकतर लोग इन लेखों को पढ़कर भूल जाते है परन्तु किताब जरुर बहुत लोगो को बार बार ध्यान आकर्षित कर प्रेरणा देगा, देश और समाज उन्नति करेगा। साथ ही साथ प्रेरणादायी लोगों की याद तरोताजा होगी।

महान कहानियाँ बड़े-बड़े कथानकों से पैदा नही होती, वे महान चरित्रों से जन्म लेती है। जो उत्कृष्ट लेखक होते है वे अपने किरदारों को कहानी की तलाश करने की अनुमति देते है। देखा जाए तो रूचि और जिज्ञासा के साथ जब कोई किताब पढ़ता है तो सपने देखने, कल्पना करने और सृजन करने की उसकी क्षमता बढ़ती है व अपनी पहुँच से परे दुनिया को भी आत्मसात करता है। यह संचार, भाषा व रोजगार कौशल को भी बढ़ाता है। पढने वाला परिवार, समाज को संवारने, सुधारने या बेहतर बनाने की दिशा में काम करने लगता है। जब एक अच्छा करता है तो दूसरा भी करता है कारवां बढ़ता जाता है। ऐसे में भारत के कदम को रोकना नामुकिन हो जाएगा। यह जरूरी नहीं है कि हम सभी चीजों को भूल जाए अपनी पांचो इन्द्रियों से सरोकार रखने वाली हर एक चीज स्मृति रूप में हमारे अंदर दर्ज होती जाती है। हम जिंदगी के जिस राह से गुजरते है उसके अनुभव अमूल्य है। यह अनुभव आसानी से नहीं मिलते। यदि इन अनुभवों को भुला दे तो दुबारा वही गलती होने की गुंजाइश भी रहती है। हमारे साथ घटी कोई विषादपूर्ण घटना का अनुभव हमें घायल करके निकल जाये या फिर हमारे मन को परिपक्व बनाये यह हमारे हाथ में है।

श्री कृष्ण ने गीता में समभाव से रहने की सलाह दी है। हमारी जिंदगी जन्म और मृत्यु के बीच का वो हिस्सा है जिसमें सुख और दुख भरने की जिम्मेदारी मेरी ही है। जाहिर है यह हमारे कर्मो का फल है। अच्छे कर्म से ही परिवार, समाज, देश उन्नति कर सकता है। मैं बचपन से ही दृष्टिबाधित दिव्यांग हूं परंतु ईश्वर की कृपा, माँ-बाप के अच्छें संस्कार ने सहारा दिया। मैंने अच्छी शिक्षा, अच्छे आचरण हासिल करने का प्रयास किया

और सफल रहा। जो सपने हम संजोते है वह मिल जाये यह जरूरी नहीं फिर भी जब तक सपने नहीं देखेगें पूरे कैसे होंगे। यह जीवन संयोग, मेल, सहकारिता, संबध से ही उत्तम और सराहनीय बन सकता है। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने सत्य और अहिंसा का सीख दिया, उस पर चलने की प्रेरणा दी तथा खुद भी चलकर ऐसी-ऐसी मिसालें पेश की जो हमारे लिए प्रेरणा का श्रोत बन गई। ऐसे ही बहुत सारे व्यक्तियों ने अपने जीवन को संघर्षमय बनाकर मानवता का उत्थान किया और मानवता की सेवा का संदेश दिया। हम उनसे न केवल सीख ले सकते है अपितु उनके कदमों के निशान को चुनकर अपनी राह आसान बना सकते है। ऐसे लोग पूजनीय है और बार-बार याद आते है। मैंने सीखा है कि पढ़ाई, ज्ञान और शिक्षा वो धरोहर है जितना पढ़ो कम ही है, जितना बाँटों उतना बढ़ता जाता है। अपने सपने, इरादों को आकर्षक करने के लिए मैं समाचार पत्र का नित्य पाठक रहा हूँ। मैनें अपनी शिक्षा दृष्टिबाधित दिव्यांग की तरह अर्जित की है। शिक्षा के दौरान मेरी सहपाठी पुनम लाकरा ने भी किताब तैयार करने में साथ दिया जो खुद भी दृष्टिबाधित है। यों तो हम लोग अलग-अलग शहरों में रहते है, परंतु समाचार पत्र में चर्चित लोगों की टिप्पणी को ध्यान से सुनते, उस पर चर्चा करते है। लोगो के जीवन चरित्र पन्ने मैंने संजोये, उनके लेखों को इक्कट्ठा कर कर्म के दस्तावेज नाम की किताब बनाई है। मुझे पूर्ण विश्वास है पाठकों को यह संदेश देगा साथ ही दूसरों की मदद एवं सेवा करने की प्रेरणा भी। किताब बनाने, समाचार पत्र पढ़ने तथा सुनाने में मेरे पापा ने बहुत मदद की।

**लेखक – नितेश गुप्ता**

**सह- लेखक – पुनम लाकरा**

# प्रेरणा स्तम्भ

मैं नौकरी पेशा से एक इंजीनियर हूँ परन्तु सेवानिवृत्त होकर समाज एवं परिवार की घटनाओं को परख कर कलमबद्ध करने की शुरुआत की। मेरी तीन किताबें 'जीवन रेखा', 'यादों के तहखाने' तथा 'पुनः अयोध्या' बाजार में है| यह किताब 'कर्म के दस्तावेज' आपके प्यार एवं सराहना के लिए लिखने में मदद किया हूँ। आप जरूर कहेंगे इसमें कौन सी बड़ी बात है कि अखबार के पन्नों को चुराकर किताब बनाना। मैं बताता हूँ अखबार के पन्नों को पढ़ना, लेख से प्रेरित होकर, इकट्ठा कर किताब बनाना भी तो एक कला ही है क्योंकि जब यह किताब का रूप  लेगा तो सदा प्रेरणा देता रहेगा।

**टाईटेनिक और करफाथिया - टाईटेनिक जहाज के कैप्टन एडवर्ड स्मिथ और करफाथिया जहाज के कैप्टन आर्थो रोसट्रन:** जानते है! जब 'टाईटेनिक' समुन्द्र में डूब रहा था, तो उसके आस पास तीन ऐसे जहाज़ सैम्सन, कैलीफोर्नियान, करफाथिया मौजूद थे, जो टाईटेनिक के मुसाफिरों को बचा सकते थे!

सबसे करीब जो जहाज़ मौजूद था उसका नाम 'सैम्सन' था और वो हादसे के वक्त टाईटेनिक से सिर्फ सात मील की दुरी पर था ! सैम्सन के कैप्टन ने न सिर्फ टाईटेनिक की ओर से फायर किये गये सफेद शोले (जो कि  खतरे की हालत में हवा में

फायर किया जाता है) देखे थे, बल्कि टाईटेनिक के मुसाफिरों के चिल्लाने के आवाज़ को भी सुनी  थी, लेकिन सैमसन के लोग गैर कानूनी तौर पर  बहुत कीमती समुन्द्री जीव का शिकार कर रहे थे और नहीं चाहते थे कि पकडे जायें, लिहाजा वो टाईटेनिक की हालात को देखते हुए भी मदद न करके, अपनी जहाज़ को दूसरे तरफ़ मोड़ कर चले गये! 'ये जहाज़ हम में से उनलोगों की तरह है, जो अपनी गुनाहों भरी जिन्दगी में इतने मग़न हो जाते हैं कि उनके अंदर से इन्सानियत का एहसास खत्म हो जाता है और फिर वो सारी जिन्दगी अपने गुनाहो को छिपाते गुजार देते हैं..'|

दूसरा जहाज़, 'कैलीफोर्नियान' जो हादसे के वक्त टाईटेनिक से करीब चौदह मील दूर था, उस जहाज़ के कैप्टन ने भी टाईटेनिक की तरफ़ से मदद की पुकार को सुना और बाहर निकल कर सफेद शोले अपनी आखों से देखा, लेकिन क्योंकि टाईटेनिक उस वक्त बर्फ़ की चट्टानों से घिरा हुआ था, उसे उन चट्टानों के चक्कर काट कर जाना पड़ता, इसलिए वो कैप्टन मदद को ना जा कर, अपने बिस्तर में चला गया और सुबह होने का इन्तेजार करने लगा! सुबह को जब वो टाईटेनिक के लोकेशन पर पहुँचा तो टाईटेनिक को समुन्द्र की तह में पहुँचे हुए, चार घंटे गुज़र चुके थे और टाईटेनिक के कैप्टन एडवर्ड स्मिथ समेत 1569 मुसाफिर डूब चुके थे..! 'ये जहाज़ हम लोगों में से उनकी तरह है जो किसी की मदद करने के लिए अपनी सहूलियत और आसानी देखते हैं। अगर हालात सही ना हो तो किसी की मदद करना और अपना फ़र्ज़ भूल जाते हैं!'

तीसरा जहाज़ 'करफाथिया' जो टाईटेनिक से 68 मील दूर था, उस जहाज़ के कैप्टन ने रेडियो पर टाईटेनिक के मुसाफिरों की चीख पुकार सुनी, जबकि उसका जहाज़ दूसरी तरफ़ जा रहा था उसने फौरन अपने जहाज़ का रुख मोड़ा और बर्फ़ की चट्टानों और खतरनाक़ मौसम की परवाह किये बगैर, मदद के लिये रवाना हो गया। मगर वो दूर होने की वजह से टाईटेनिक के डूबने के दो घंटे बाद लोकेशन पर पहुँच सका, लेकिन यही वो जहाज़ था जिसने लाईफ बोट्स की मदद से टाईटेनिक के बाकी 710 मुसाफिरों को जिन्दा बचाया था और उसे हिफाज़त के साथ न्यूयार्क पहुँचा दिया था! उस करफाथिया जहाज़ के कैप्टन "आर्थो रोसट्रन" को ब्रिटेन के चंद बहादुर कैप्टनों में शूमार किया जाता है और उनको कई समाजिक और सरकारी आवार्ड से भी नवाजा गया था...!

याद रखिये!--- हमारी जिन्दगी में हमेशा मुश्किलें रहती हैं, चैलेंज रहते हैं, लेकिन जो इन मुश्किलों और चैलेंज का सामना करते हुए भी इन्सानियत की भलाई के लिये कुछ कर जाये, उन्हें ही इन्सान और इन्सानियत याद रखती है! प्रार्थना करें कि भगवान किसी की मदद का मौका दे, क्योंकि ये इन्सानियत का सबसे ऊँचा दर्ज़ा है! बिलियम थामस् की यादगार पोस्ट।

**सुनिल कुमार गुप्ता**

# अनुक्रमणिका


जमीन के सितारे ........................................................1

मिसाल..........................................................................56

समृद्धि की राह ............................................................97

देश के रक्षक...............................................................213

# जमीन के सितारे

**कमाल की शख्सीयतः** हमारे आसपास ऐसे बहुत से लोग हैं, जिनकी जिंदगी से हम प्रेरणा ले सकते हैं। अगर मन में कुछ करने का जुनून हो, तो कोई भी बाधा उसे रोक नहीं पाती। ऐसी ही शख्सीयत है विजयवाड़ा, आंध्र प्रदेश की 76 वर्षीय गोल्ला विजयश्री गुप्ता, जो उम्र को धता बताते हुए तैराकी प्रतियोगिताओं में परचम लहरा रही हैं और प्रशंसाएं भी पा रही हैं।

चालीस की उम्र पार करते ही बहुत से लोग कुछ भी नया सीखने से डरते हैं, क्योंकि वे मध्य जीवन में कोई जोखिम नहीं लेना चाहते। पर, विजयश्री की कहानी ही तब शुरू हुई, जब आधा जीवन बीत चुका था, जीवन की मध्य उम्र में शौक को मिला पंख। उन्होंने न केवल चालीस की उम्र में तैरना सीखा, बल्कि प्रतियोगिताओं में भी भाग लेना शुरू किया और आज वो सौ से भी ज्यादा मेडल्स जीत चुकी। मद्रास यूनिवर्सिटी से स्नातक और तीन बच्चों की मां विजयश्री ने 1999 में अपनी सबसे छोटी बेटी को तैराकी सिखाने के साथ अपनी तैराकी यात्रा शुरू की थी। शुरू में उन्होंने अपने जुनून को छुपाए रखा, लेकिन जैसे ही उनके परिवार वालों को यह बात पता चला, उन्होंने उनको प्रोत्साहित करना शुरू किया। इसके बाद से वो प्रोफेशनल ट्रेनिंग लेने लगीं। खराब सेहत के बावजूद, वह अपने

कौशल में सुधार करती रहीं। फिर 52 की उम्र में अपने परिवार के प्रोत्साहन से उन्होंने कड़ा अभ्यास करना शुरू कर दिया। नतीजा ये रहा कि 45-50 की आयु वर्ग में राष्ट्रीय स्तर की प्रतियोगिताओं में भाग लेना शुरू किया। 2007 में उन्होंने न्यूजर्सी सीनियर ओलंपिक चैम्पियनशिप में तीन स्वर्ण पदक जीते।

विजयश्री कहती हैं, मैं 76 साल की हूँ और आज भी हर दिन कम से कम एक किलोमीटर तैरती हूं। मेरा मानना है कि अगर कोई चाहे तो उम्र की परवाह किए बिना प्रयास से कोई भी कठिन लक्ष्य हासिल कर सकता है। अमेरिका, सिंगापुर जैसे देशों के साथ भारतीय प्रतिस्पर्धाओं में इन्होंने कुल सौ से भी अधिक पदक जीते हैं।

**क्यों मारा गया रावणः** जो लोग शास्त्र की रीति से जीवन जीते हैं, उन्हीं को जीवन की संपूर्ण अवस्था व संपूर्ण लाभ प्राप्त होते हैं। जो लोग ऐसा नहीं करते, वे भले ही मनुष्य जैसे दिखाई पड़ते हैं, लेकिन राक्षस हो जाते हैं। अपने लिए भी कुरूप हो जाते हैं और दूसरों के लिए भी। उनका जीवन कहीं से प्रेरणादायक नहीं होता। न उन्हें सुख मिलता है, न सिद्धि मिलती है। उनका सब कुछ विनष्ट हो जाता है। जो लोग केवल मनमानी से जीवन जीते हैं, उनका जीवन गड्ढे में चला जाता है, अत्यंत अभिशप्त हो जाता है, इसी को राक्षसी जीवन कहते हैं। कोई मनमानी करेगा, तो उसे सच्चा सुख नहीं मिलेगा। गीता में लिखा है- न स सिद्धिमवान्पोति न सुखं न परां गतिम् ।

जब हम राक्षसों के जीवन पर ध्यान देते हैं, जिनका जन्म ब्राह्मण परिवार में हुआ, ऋषि कुल में हुआ, तो रावण

याद आता है। पुलस्त्य ऋषि के वंश में रावण का जन्म हुआ। पुलस्त्य के पुत्र विश्रवा जिनका पुत्र रावण। रावण को परोक्ष ज्ञान तो था, किन्तु उसे अपरोक्ष ज्ञान नहीं था, वह ज्ञान को चरित्र में नहीं उतार सका। रावण ने भाइयों के साथ मिलकर तप भी किया। पुराणों में वर्णित है, तीनों भाइयों ने घनघोर तप किया, किंतु वह तप परम तत्व की प्राप्ति के लिए नहीं था, केवल भोग की प्राप्ति के लिए था।

कोई आदमी धन कमाए और बंदूक खरीद ले, घन कमाए और दूसरी पत्नी ले आए, धन कमाए और केवल शरीर सशक्त बनाने में लग जाए, तो वह कभी बड़ा आदमी नहीं होगा। रावण बंधुओं ने जो तप किया, उसका उद्देश्य था कि खूब धन मिले, खूब भोग मिले। यदि सैनिक केवल यही प्रयास करे कि हमें खूब बल मिले, भोग के साधन मिलें, तो वह राष्ट्र का संरक्षक कर्मचारी कभी नहीं हो पाएगा।

धर्म के चार स्वरूपों का वर्णन है- सत्य, तप, यज्ञ, दान। ये चार स्तंभ हैं धर्म के। तप करना अच्छी बात है, यज्ञ करना बहुत अच्छी बात है, दान देना और सत्य बोलना भी जरूरी है। रावण जो तप करते हैं, उनका लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति नहीं है, उनका उद्देश्य केवल धन, भोग और बल है। रावण का तो तप स्वर्ण की लंका के लिए है और वह चाहता है- संसार में जितनी सुंदर स्त्रियां हैं, सब हमारी पत्नियां बन जाएं, संसार के सभी उत्कृष्ट साधन मिल जाएं, पुष्पक विमान मिल जाए।

कुंभकर्ण को छह महीने भोग के लिए और छह महीने सोने के लिए मिल गए। सोना भी भोग का ही स्वरूप है। आदमी सोया हुआ होता है, कोई उत्पादन नहीं कर रहा, किसी

तरह का विकास नहीं होता है। अंततः क्या हुआ ? अधिक से अधिक भोग की लालसा लिए जी रहे दोनों भाई मारे गए और रामजी की शरण में आकर वही भाई राजा बना, जो संयमी व सदाचारी था। **रामानंदाचार्य स्वामी श्रीरामनरेशाचार्य**

**मजबूर नौकरानी से एक राष्ट्र नायक तकः** बर्बरता के अनगिनत जंगलों से होकर दुनिया यहां तक पहुंची है। जो अमेरिका आज दुनिया भर में मानवाधिकार के कागज बांटता है, वहां कभी श्वेतों ने अश्वेतों का जीना मुहाल कर रखा था। अमेरिका में कुछ इलाके तो इतने बदनाम थे कि दंगा छिड़ते ही अश्वेतों को अपने घर-डेरे से भागकर कहीं छिपना पड़ता था। एक ऐसा ही इलाका था पूर्वी सेंट लुइस, जहां एक अश्वेत लड़की घरेलू नौकरानी का काम करती थी। न पिता का कोई ठिकाना था और न मां को बेटी की कोई चिंता थी। महज आठ की उम्र में ही अपने लिए रोटी कमाने की जिम्मेदारी उसके सिर पर लद गई थी। काम लेने वाले चौबीस घंटे काम लेते थे और छोटी-छोटी गलतियों पर खूब पीटते भी थे। वह अपने लिए रोटी कमाते 11 साल की हो गई थी। अक्सर दोनों हाथ काम में लगे रहते, कभी कपड़े धोते हुए, तो कभी कपड़े सहेजते हुए और नजरें स्कूल की खुली किताब की ओर चली जाती थीं। पढ़ने का खूब मन करता था। वह सोचती थी, काश! उसके भी माता- पिता होते, वह स्कूल जाती, अच्छी जिंदगी जीती।

उस दिन हाथ में कुछ ज्यादा ही दर्द हो रहा था उसे मालकिन ने जला दिया था, क्योंकि कपड़े धोने में कुछ ज्यादा साबुन लग गया था। अब एक तरफ पूरे घर का काम था, दूसरी ओर, स्कूल की पढ़ाई और तीसरी ओर, हाथ का दर्द और जलन। तभी फिर एक बार पूर्वी सेंट लुइस में शोर मच गया

था। श्वेत शायद फिर बर्बरता पर उतर आए थे, अश्वेत जान बचाने के लिए बदहवास भागे चले जा रहे थे। उस लड़की ने काम रोककर खिड़की से देखा, नीग्रो लोगों के घर फूंक दिए गए थे। आसमान धुएं से भरने लगा था। जान बचाने के लिए सब भाग रहे थे, श्वेत मालिकों के घरों से भी अश्वेतों को खोज-खोजकर निकाला और मारा जा रहा था। हैवानियत का गजब मंजर था, वह लड़की भी भाग खड़ी हुई, कोई तो ऐसी जगह होगी, जहां वह मुंह छिपा लेगी। दूसरे बच्चे भी जान बचाए सड़कों पर चीखते-रोते भाग रहे थे। वह यह सोचती हुई भाग रही थी कि हम बच्चों ने भला क्या बिगाड़ा है? बच्चों को तो बख्श दो। काश! दुनिया में ऐसी नफरत न होती, बच्चों से सभी लोग प्यार करते तो वे सभी प्रकार की हिंसा से बच जाते।

खैर, दंगा तो थम गया, पर दिल को हमेशा के लिए दर्द दे गया। वह बहुत बुरा दिन था और बेहद स्याह रात, पास बहती मिसिसिपी नदी के चमकदार जल में भी किसी महिला या बच्चे की चीख-पुकार घुली-मिली सी लगती थी। पूर्वी सेंट लुइस से उस बच्ची का मन उचट गया। अगर किस्मत में अपनी मेहनत पर ही गुजारा लिखा है, तो कहीं और, ठीक जगह चला जाए। जिंदगी ने मौका दिया, यह न्यूयॉर्क चली गई, सड़कों पर ही रहती, सड़कों पर ही नाचती, कुछ पैसे मिल जाते। बाद में नृत्य मंडलियों के साथ जुड़ गई। वह समझ गई कि मंच पर चढ़ना भर काफी नहीं है, मंच पर सभी को नजर आना ज्यादा जरूरी है। फिर क्या था, मंच पर वह कुछ ऐसा करने लगी कि सबका ध्यान खींचने लगी, लोग उन्हें जोसेफिन बेकर नाम से

जानने लगे। फिर एक दिन कलाओं की नगरी पेरिस ने बुला लिया।

उदार पेरिस ने नए अश्वेत कलाकार को हाथों-हाथ लिया। यह बहुत तेज नाचती थीं, मानो अगली बार कोई नाचने न देगा। उन्होंने फिल्मों में भी काम किया। सड़क से उठकर महलों में पहुंच गई। दुनिया के पहले अश्वेत सितारों में गिनी गई। द्वितीय विश्व युद्ध के समय नाजियों ने जब आतंक मचाया, तब वह अन्याय के खिलाफ जासूस बन गई। युद्ध के बाद उनका सम्मान बहुत बढ़ गया। बड़े-बड़े लोग उनके नृत्य, गायन के मुरीद हुए, पर बर्बर अमेरिका उनकी आंखों से ओझल नहीं होता था। एक मौका आया, जब 1963 में उन्होंने मार्टिन लूथर किंग जूनियर के पक्ष में वाशिंगटन की प्रसिद्ध सभा में भाषण दिया। अश्वेतों पर जुल्म के खिलाफ बेकर (1906-1975) उस सभा में एकमात्र महिला वक्ता थीं। उन्होंने कहा था, 'मैं राजाओं-रानियों के महलों और राष्ट्रपतियों के घरों में गई हूं, लेकिन अमेरिका के किसी होटल में आकर एक कप कॉफी नहीं पी सकी। यह सोचकर मैं पागल सी हो जाती हूं। गुस्सा आ जाता है, तो आप जानते हैं, मैं अपना बड़ा मुंह खोल देती हूं और फिर देखिए, जब जोसेफिन अपना मुंह खोल देती है, तो पूरी दुनिया सुनती है।'

वह जर्मनी के चंद रत्नों या राष्ट्र नायकों में शुमार हैं। उन्हें बच्चों से इतना प्यार था कि अलग-अलग धर्म और अलग-अलग नस्ल के 12 बच्चों को उन्होंने गोद ले रखा था, एक ऐसा परिवार बना रखा था, जिसे वह 'द रेनबो ट्राइब' कहती थीं।

दुनिया 10 दिसंबर को जब भी मानवाधिकार दिवस मनाती है, जोसेफिन बेकर को जरूर याद किया जाता है।

**एक जरूरी दवा, जो घर-घर पहुंच गईः** अब जुकाम से कोई नहीं डरता, पर एक जमाना था, जब जुकाम का भी अपना कहर हुआ करता था। वैसे तो जुकाम की भी आधा दर्जन वजहें होती हैं, पर सबसे बड़ी वजह है, शरीर में ठंड का बैठ जाना। अगर ठंड को ज्यादा बैठने दिया जाए, तो आफत है, मन उचट जाता है, सिर में तनाव बना रहता है, नाक बंद हो जाती है, फेफड़ा हवा खींचने में हांफने लगता है और भारी से लगते समूचे शरीर में हल्के दर्द की लहर सी उठती है। बड़े तो यह दर्द झेल लेते हैं, पर छोटे बच्चे जुकाम से रोने लगते हैं। सांस लेने में जब बाधा पहुंचने लगती है, तब लगता है, काश! कोई झटके से सारी रुकावट को निकाल बाहर करता।

लोग कहते थे, जुकाम तो धीरे-धीरे ही बीतेगा, धूप में बैठिए, ठंड से बचिए, काढ़ा पीजिए, लेकिन जाड़े के दिनों में क्या किया जाए, जब धूप मुंह चुरा लेती है? विकसित देशों में एक उपाय लोग करते थे कि खास तीखा मलहम लगाकर बड़े जलते लैंप के पास बैठ जाते थे। उस दिन एक बच्चा बहुत मुश्किल से लैंप के पास बैठा था, बार-बार उठकर भागने लगता था। लैंप की गरमी से उसकी नाजुक त्वचा झुलसने लगती थी। वह लगातार रोए जा रहा था। उसके पिता भी बहुत दुखी थे, पर किसी तरह से बच्चे को मनाकर बार-बार लैंप के पास बैठाते थे। वैसे यह आए दिन की समस्या थी, कभी कोई एक बच्चा जुकाम कहीं से खींच लाता, दूसरे बच्चों में बांट देता, कभी-कभी

सारे बच्चे जुकाम से हलकान हो जाते थे, मगर उस दिन बड़े लड़के ने लैंप से हो रही तकलीफ के चलते कोहराम मचा दिया था। यह गलत नही है कि माता-पिता से बच्चों की छोटी तकलीफ भी बर्दाश्त नहीं होती है और वे अपने बच्चों से भी ज्यादा बेचैन हो उठते हैं?

उस दिन तो हद ही हो गई थी। पुत्र का जुकाम और उपचार पिता के लिए आफत बन गया। पिता सोचने पर मजबूर हो गए। क्या कोई ऐसा उपाय है कि बच्चों को गरम लैंप का सहारा न लेना पड़े ? वह पिता उस दिन एक नई औषधि बनाने के बारे में सोचने लगे। एक ऐसी दवा, जो तकलीफ न बढ़ाए, जो बच्चों को न रुलाए, जो अभिभावकों को भी राहत का एहसास कराए। जुकाम के समय इस्तेमाल होने वाले तमाम उपायों को उन्होंने खंगाला और ऐसी सामग्रियों को पहचाना, जिनके प्रभाव से जुकाम में राहत का एहसास हो। कैलेंडर पर साल 1894 चढ़ चुका था। वह दवा बनाने में दिन-रात जुट गए। आविष्कार में कुछ समय लगा, पर अंततः पेट्रोलियम जेली, पुदीना, कपूर और नीलगिरि के तेल को मिलाकर उन्होंने एक मलहम बनाया। बड़े लोगों और बच्चों में इसका प्रयोग हुआ और कामयाब रहा। मलहम को नाक, गले और छाती पर लगाते ही शरीर के प्राकृतिक ताप से इस मलहम से वाष्य के साथ औषधि का संचार होने लगा। यह औषधीय वायु नाक से गुजरती हुई फेफड़े तक पहुंचने लगी और जुकाम के चलते होने वाली रुकावट तत्काल कमजोर पड़ने लगी। अब गरम लैंप के पास देर तक बैठने की जरूरत नहीं रही। थोड़ा मलहम लगाते ही बच्चों को आराम मिलने लगता था और नींद आ जाती थी।

मां की मीठी लोरी की तरह हो गया मलहम, तो बाजार में चल पड़ा। नाम रखा गया विक्स।

इस कारगर और सस्ते मलहम की बिक्री बहुत तेजी से बढ़ी। इसे बनाने वाले लंसफर्ड रिचर्डसन को लोग रातों-रात जानने लगे। बड़े-बड़े वैज्ञानिकों ने भी लोहा मान लिया कि उद्यमी रिचर्डसन के एक शौकिया आविष्कारक ने आने वाले अनेक युगों के लिए एक ऐसा औषधीय चमत्कार गढ़ा है, जिसकी तुलना किसी भी अन्य औषधि से नहीं की जा सकती। एक ऐसा उपचार, जिसमे कोई जोखिम नहीं। खरीदने के लिए न डॉक्टर की पर्ची चाहिए और न इसे रखने से गंदगी का खतरा है। लोगों का इस औषधि पर इतना विश्वास बढ़ा कि एक समय इसका इस्तेमाल अनेक बीमारियों में होने लगा था। नाक बहे या नाक बंद में विक्स, चोट लगने पर, शरीर या सिरदर्द में विक्स, जख्म पर विक्स, त्वचा रूखी हो तो विक्स, मच्छरों से बचने के लिए भी विक्स। इसकी बिक्री इतनी बढ़ी कि नई सदी के आते-आते लंसफर्ड रिचर्डसन (1854-1919) अमीरों में शुमार हो गए। तमाम अन्य उत्पादों को छोड़कर केवल विक्स बनाने में लग गए।

जिस बेटे की वजह से उन्होंने इस दवा का आविष्कार किया था, उसने दवा का नाम विक्स वेपोरब कर दिया। जब दुनिया में स्पेनिश फ्लू फैला, तब इसकी बिक्री नौ लाख डॉलर से बढ़कर लगभग तीस लाख डॉलर तक पहुंच गई। आज विक्स बनाने वाली कंपनी सिर्फ भारत में ही हर साल आठ अरब रुपये से ज्यादा का कारोबार करती है। जरूरत से उपजी यह दवा आज घर-घर में पाई जाती है और इसका कोई सानी नहीं है। आश्चर्य नहीं कि पूरी दुनिया लंसफर्ड रिचर्डसन की आभारी है।

**गांव से आई दुनिया में गूंजती आवाज :** अमृतसर, लाहौर की वह फिजा ही अलहदा थी, जिसमें प्यार और संगीत का रस-रंग घुला हुआ था। कभी सूफी संत बुल्ले शाह के बोल गूंजते थे, मस्जिद ढा दे, मंदिर ढा दे, ढा दे जो कुछ दिसदा, पर किसी दा दिल न ढावीं, रव दिलान विच वसदा। कभी सूफी वारिस शाह पुकारते थे, सानू रब्ब ने यार मिला दिता भुल गये पयार अलबेलियां दे...। प्यार और सद्भाव को लालायित वह समाज वाकई अजूबा था। बेशक, एक अच्छा समाज ही बेहतर कवि-लेखक पैदा करता है और फिर उन्हें गाने-सुनने वाले आम लोग भी अच्छे ही निकलकर आते हैं। इस देश में तब अच्छा सुनाने वालों के संगठित समुदाय होते थे, इन समुदायों के मिरासी गायक कुछ न कुछ गाते हुए मांगते हुए गांवों से गुजरते थे। उन्हीं गांवों में से अमृतसर के पास एक गांव था कोटला सुल्तान सिंह। वहां से भी मिरासी गाते हुए अक्सर गुजरते थे और उनकी नकल करते हुए एक बालक फीकू भी क्या खूब गाता था, सानूं रब्ब ने यार मिला दिता...।

फीकू के परिवार के पास ज्यादा जमीन तो थी नहीं, तो उनका बड़ा परिवार लाहौर आ गया। फीकू अपने भाई के साथ एक सैलून में सेवाएं देने लगे। जितने चाव से बाल काटते थे, उतने ही लगाव से गीत गुनगुनाते थे। गंवई मिरासियों ने हीर रांझा के प्रेम-विरह को मानो फीकू के दिल और गले में बसा दिया था। मीठी रसभरी मर्दानी आवाज में फेंक भी थी और गूंज भी, सीधे कलेजे में उतर आती थी। उम्र सतरहवें पड़ाव पर थी और निकाह दो साल पहले ही हो गया था। ससुर ने बेटी विदा नहीं की थी कि पहले जंवाई राजा कुछ कमाने लगें, तो

गौना कर देंगे। फीकू के पिता का गीत-संगीत में ज्यादा यकीन नहीं था, मगर मरासियों, फकीरों ने ऐसी आदत लगा रखी थी कि फीकू के दिल से गीत फूट पड़ते थे, ठीक वैसे ही, जैसे मरासी कोशिश करते हैं, गांव के एक छोर पर सुर छेड़ दें, तो दूसरे छोर तक सुनाई पड़े।

फीकू एक दिन ऐसे ही गा रहे थे और लाहौर आकाशवाणी के अधिकारी जीवनलाल मट्टू उधर से गुजर रहे थे। वह आवाज सुनकर ठिठक गए, शायद वारिस शाह के हीर की ही पंक्तियां थी मिली रांझे नूं हीर ते...। अद्भुत पुकारती जादुई आवाज। जीवनलाल गीत सुनते हुए हुए पास पहुंच गए। लड़का हजामत बनाते हुए क्या गजब गा रहा है! लफ्जों का पोर-पोर करीने से परोसते हुए। आवाज में कैसे उतर रहा है और कैसे फिर चढ़ रहा है। ऐसे तो कोई नहीं गाता। जीवनलाल जी ने पूछ लिया, 'तुम्हारा नाम क्या है?' खुशनुमा चेहरे के साथ जवाब मिला, 'जी  मुझे मोहम्मद रफी कहते हैं।' कुछ और बातचीत हुई, तो तो जीवनलाल जी ने पूछा, 'क्या रेडियो के लिए गाओगे?' मोहम्मद रफी ने जवाब दिया, 'जी मौका मिला, तो जरूर गाऊंगा।' जीवनलाल जी ने कहा, 'मैं आकाशवाणी में कार्यक्रम अधिकारी हूं, तुम कल आकाशवाणी दफ्तर आ जाओ, एक टेस्ट ले लेते हैं।'

फिर क्या था, दूसरे ही दिन फीकू ने मोहम्मद रफी बनने की ओर कदम बढ़ा दिया। आकाशवाणी में पहली ही स्वर परीक्षा में परीक्षकों ने पास कर दिया। लाहौर आकाशवाणी का दफ्तर तब के कलाकारों बेगम अख्तर, इनायत हुसैन का पसंदीदा ठिकाना था। जीवनलाल मट्टू स्वयं बहुत उम्दा

कलाकार थे, उन्होंने भी मोहम्मद रफी को सिखाया और दूसरे गुरुओं-उस्तादों के पास भी भेजा। राग पहाड़ी से भैरवी, बसंत, मल्हार तक रफी की आवाज संवर उठी। मार्च 1943 में रफी रेडियो के लिए गाने लगे और रेडियो पर उनका गायन सुनकर ही उन्हें संगीत निर्देशक श्याम सुंदर ने पंजाबी फिल्म गुल बलोच में गाने का मौका दिया, सोनिए नी, हीरिए नी, तेरी याद ने सताया। इस गीत ने रफी के लिए मुंबई के दरवाजे खोल दिए। वह अगले साल मुंबई पहुंचे और 1945 में हिंदी फिल्मों में उनके गीतों का शानदार सफर शुरू हुआ। लाहौर में कमाई 25 रुपये थी, पर मुंबई में प्रति गीत 500 रुपये मिलने लगे। मुंबई में पांव जम गए।

दिल से बेमिसाल भले इंसान रफी को भारत की आबोहवा से बहुत प्यार था, विभाजन के बाद उन्होंने परिवार को भी मुंबई बुला लिया। नया भारत बनाने में उनकी आवाज का भी बहुत योगदान है। जय रघुनंदन जय सियाराम के साथ ही दुनिया में मेरी आबरू रखना मेरे अल्लाह... को वह ऐसे डूबकर गाते थे कि लोग बोल पड़ते थे, अल्लाह या ईश्वर का अगर कोई घर होगा, तो फरिश्ते ऐसी ही आवाज में गाते होंगे। 24 दिसंबर को जन्मे मोहम्मद रफी (1924-1980) आज किसी परिचय के मोहताज नहीं हैं। उनकी आवाज में हीर का दिल है, तो रांझा की रूह भी। वह आज नहीं हैं, पर उनकी आवाज उनके गांव में ही नहीं, पूरी दुनिया में गूंज रही है, सौ बार जनम लेंगे, सौ बार फना होंगे, ऐ जान-ए-वफा फिर भी, हम तुम न जुदा होंगे।

**बाबा साहेब भीमराव अंबेडकर (संविधान निर्माता, समाज सुधाकर), बस पढ़ाई से खींची लकीर भीमकाय:** बीसवीं सदी का दूसरा वर्ष रहा था। परीक्षाएं बीत गई थीं और गर्मी की छुट्टियां भी शुरू हो गई थीं। तीन बच्चे सतारा में अपने घर से पूरी तैयारी के साथ निकले थे, दो भाई और एक भतीजा, उनमें एक ही बच्चा दस साल से ज्यादा उम्र का था। सबके बदन पर नए वस्त्र थे, वे साफ सुथरे सजीले। पिता ने बुलाया था कि आ जाओ, छुट्टियों में कोरेगांव, मन बहल जाएगा। तब मन बहलाने के मौके दुर्लभ होते थे। खैर, सफर पर निकले दो भाइयों में जो छोटा था, वह कुछ ज्यादा ही तेज था. महज नौ साल का अबोध, मां तीन साल पहले ही दुनिया से चली गई थी, तो छुट्टियों में बगैर मां मन नहीं लगता था और पिता थे कोरेगांव में, तो जाहिर है, कोरेगांव पिता के पास पहुंचने का उत्साह खिलखिला उठता था। कुछ यात्रा ट्रेन से और कुछ यात्रा घोडागाड़ी या बैलगाड़ी से तय थी। पिता को पत्र लिख दिया गया था कि फलां दिन बच्चे पहुंचेगे, आप मसुर स्टेशन पर समय से पहुंच जाइए, पर पता नहीं, पिता क्यों न आए, पत्र मिला भी या नहीं।

इंतजार में बैठे बच्चे रास्तों पर दूर-दूर तक नजरें फेंकते थे, पर पिता कहीं दिखते नहीं थे। बच्चों ने मिलकर फैसला किया, पिता नहीं आए कोई बात नहीं, चलो, खुद उन तक पहुंच जाते हैं। कोई समस्या नहीं, तीन-तीन बच्चे हैं और जेब में पैसे भी हैं, तो एक गाड़ी वाले से बात हुई। गाड़ी वाले ने बच्चों पर गौर किया, सुंदर-सुडौल बच्चे बड़े घर के लगे, वह तैयार हो

गया। जैसे ही गाड़ी कुछ आगे बढ़ी, बातों ही बातों में गाड़ीवाले ने बच्चों की जाति का पता लगा लिया, फिर क्या था वह इंसानियत भी भूल गया। लगभग धक्के देकर उसने बच्चों को गाड़ी से उतार फेंका। बच्चे तड़प उठे कि यह क्या बात हुई, हम पूरे पैसे भी दे रहे हैं. तब भी कोई हमें गाड़ी से ऐसे कैसे उतार सकता है?

गाड़ीवाला अपने दिमाग के दूषित तरकश से निकाल-निकालकर जातिसूचक बाण चला रहा था। उस बेवकूफ को लग रहा था कि वह अशुद्ध हो गया, उसकी गाड़ी अशुद्ध हो गई, यहां तक कि गाड़ी खींचने वाला पशु भी अशुद्ध हो गया? भला ऐसे कैसे मुमकिन है ? यह कहाँ लिखा है? यह कहाँ का कानून है ? बच्चे बिलख रहे थे कि तुम और पैसे ले लो, पर हमे घर छोड़ दो, शाम ढल रही है, हम कहाँ जाएंगे, कैसे जाएंगे? हम पहली बार सफर पर निकले हैं, हम बच्चों पर रहम करो, पर बेशर्म गाड़ीवाला टस से मस न हुआ। अपनी जाति के मैले चिथड़े हो चले परदे को हटाने को तैयार न हुआ। वह अपना जातिगत कूड़ा संभाले इस झूठे गर्व के साथ भागा कि अछूतों से पीछा छूटा। इधर, खासकर नौ वर्षीय बच्चे का विश्वास पूरी तरह हिल गया। कभी चिंता उमड़ती थी कि पिता तक कैसे पहुंचेंगे, रुलाई फूटती थी कि यह जाति भला क्या बला है?

बच्चे भारी मन से अपना सामान उठाए फिर रेलवे स्टेशन लौट आए। कोई गाड़ीवाला कोरेगांव जाने को तैयार न था, तब स्टेशन मास्टर ने एक गाड़ीवाले को तैयार किया, पर वह भी दो शर्तों पर तैयार हुआ, यह दोगुना भाड़ा भी लेगा और अछूतों की गाड़ी भी नहीं हांकेगा। बच्चे को यह और भी

बुरा लगा, पर दूसरा कोई चारा न था, पिता के पास रात चंढ़ने से पहले पहुंचना था। उस रात वह जगह ही नहीं, पूरी दुनिया पराई-सी लग रही थी। दिल दरकता चला जा रहा था, भैया किसी तरह से गाड़ी हांक रहे थे और गाड़ीवाला आंखों में हिकारत का भाव भरे चला आ रहा था। वह पहली ट्रेन यात्रा और उसके बाद गाड़ी यात्रा ने इतिहास रच दिया था। बच्चे ने ठान लिया था कि इस जाति का कुछ तो करना होगा। जाति ऐसे तो नहीं चलेगी, सबको बदलना होगा। बदलने के लिए ताकत चाहिए और ताकत के लिए पढ़ना होगा। आगे बढ़ने का फॉर्मूला ही यही था, पढ़-लिखकर ऐसी लंबी भीमकाय लकीर खींच दो कि कोई नजरंदाज न कर सके।

उस अद्‌भुत बालक भीमराव आंबेडकर ने यही किया। उनकी जिंदगी में कुछ भी आसान न था, पर वह अमेरिका गए ब्रिटेन गए, इतना पढ़े कि जितना देश में कोई नहीं पढ़ा था। वह जानते थे कि देश को आजादी दिलाने की लड़ाई, तो छोटी है, पर कथित वंचित जातियों को हक दिलाने की लड़ाई बहुत लंबी चलने वाली है। वह तैयार थे, उन्हें देश का संविधान लिखने के कार्य के लिए आमंत्रित किया गया। संविधान में किसी भी प्रकार के छुआछूत, भेदभाव के लिए गुंजाइश नहीं छोड़ी गई।

बाबासाहेब भीमराव आंबेडकर (1891-1956) को आज पूरी दुनिया जानती है, क्योंकि उन्होंने भारत को बदल दिया। उन्होंने ऐसे दिन भी देखे थे, जब हजामत करने वाला भैंसों के तो बाल काटता था, पर उनके बाल काटने से मना कर

देता था, मजबूरी में बहनें ही उनके बाल काटती थीं। आज ऐसा भारत है,जब हजामत की दुकान पर कोई जाति नहीं पूछता।

**कृपया, थामे रहिए बच्चों की उंगलियाः** वह ब्रिटिश बच्चा उस भारत में जन्मा था, जहां सूरज की रोशनी दिन में बहुत चटक खिलती थी और रातें अक्सर पूरी काली अंधेरी होकर लंबी हो जाती थीं। दीये और लैंप जला करते थे, विद्युत का कहीं अता-पता नहीं था। पिता मुंबई में कला पढ़ाते थे और मां विदुषी थी, दोनों व्यस्त रहते थे, वह बच्चा दो भारतीय सेविकाओं की गोद में ही पल-बढ़ रहा था। टूटी-फूटी हिन्दुस्तानी बोलने लगा था। उसे अक्सर याद दिलाना पड़ता था कि वह अंग्रेज है और उसे अंग्रेजी में ही बोलना चाहिए। एक सेविका मंदिर ले जाती थी, तो दूसरी चर्च। जिंदगी खुशनुमा बीत रही थी और एक छोटी बहन भी परिवार में शामिल हो गई थी।

तब अक्सर अंग्रेज परिवारों में चलन था कि बच्चे भले भारत में पैदा हों, पर कुछ बड़े होते ही इग्लैंड भेज दिए जाते थे, ताकि पढ़ाई-लिखाई अपनी भाषा-संस्कृति के हिसाब से हो सके। उस बच्चे के माता-पिता को तो कुछ ज्यादा ही जल्दी थी। वह छह साल का बच्चा तीन साल की छोटी बहन के साथ इंग्लैंड के लिए रवाना हुआ। इंगलैंड में खूब रिश्तेदार थे, पर माता-पिता ने दोनों बच्चों को उनके पास नहीं छोड़ा। समाचार पत्र में विज्ञापन का सहारा लिया और एक पालक दंपत्ति का चयन किया। दोनों बच्चों को उनके पास छोड़ दिए। लौटते समय माता-पिता ने बच्चे और उसकी भावना पर गौर नहीं किया। वह बच्चा सवालों से घिर गया कि आखिर माता-पिता मुझे अजनबियों के बीच क्यों छोड़कर जा रहे हैं? ऐसी क्या मजबूरी

है कि अलग कर रहे हैं? माता-पिता लौटने की जल्दी में थे। यह भी नहीं बताया कि फिर कब, कहां मिलेंगे, कब लेने आएंगे? इंग्लैंड में तीन-तीन मौसियां थीं, पर एक अजनबी बूढे नाविक को पालक बना दिया। माता-पिता की जल्दबाजी उस बच्चे के लिए दर्दनाक साबित हुई, वह अंदर-अंदर ही हालात से हिल गया। पालन- पोषण की असली जिम्मेदारी बूढे नाविक की पत्नी के हाथों में थी, जो क्रूरता में सेर थी और उसका बेटा सवा सेर। मां-बेटे ने मिलकर दुर्व्यवहार का सिलसिला चला दिया। खूब अपशब्द धमकियां, मार-पीट, अपमान, कारावास की सजा मानो चारों ओर से बरसने लगी। बस स्कूल राहत की तरह था और कहानियां बहार की तरह। यह अंतर्मुखी होता चला गया। नजरें दरवाजे पर रहती थीं, पर भारत से न मां आई, न पापा। एक साल रोते-रोते बीता, दूसरा सिसकते, तीसरे ने दिल तोड़ दिया, चौथे में चिंता गहराई और पांचवें ने पल-पल परीक्षा ली। छठे वर्ष न जाने किस्मत कैसे बदली, अचानक मां के दर्शन हुए। उन्होंने बच्चों को शोषण गृह से निकाला, पर तब तक बच्चे के मन की नदी ने अलग अंदाज में बहना सीख लिया था। एक लेखक की नींव पड़ चुकी थी, जहां से कभी पद्य, तो कभी गद्य बहने लगता था। वह स्कूली पढ़ाई पूरी करने के बाद आगे पढ़ना चाहते थे, पर पिता ने उनके लिए भारत में नौकरी खोज ली और बुला लिया। वह सोलह साल नौ महीने की उम्र में भारत लौटे और अपनी जन्मभूमि की आबोहवा में खुद को फिर जिंदा पाया। लाहौर से पत्रकारिता की शुरुआत की और इलाहाबाद भी रहे, पर स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता था. तो सात वर्ष बाद इंग्लैंड लौट गए। वहां जब उनकी पहली संतान का

जन्म हुआ, तब उनकी यादों में बचपन फिर उमड़ पड़ा। वह अकेलापन, वो त्रासद स्थितियां, चुपचाप सहना और अपने लिए रास्ता बनाना। तब उनकी कलम से मोगली नामक कालजयी बाल चरित्र की रचना हुई। इंसान का बच्चा, जो भयावह जंगल में छूट गया है, जहां सब जानवर हैं। कुछ जानवर ही उसे पालते बचाते हैं। मोगली की मां कहानी में दूर-दूर तक नहीं हैं और न पिता। मोगली की दुनिया में भेड़ियों का हुजूम है। प्यारा बल्लू भालू है। मुसीबत में सीना ताने साथ खड़े होने वाला काला चीता है और हरदम गुर्राता खून का प्यासा शेर खान भी है। रक्षा नामक मादा भेड़िया को मोगली मां मानता है। ऐसे मोगली और जंगल बुक की रचना के लिए रुडयार्ड किपलिंग को दुनिया बहुत याद करती है।

पांच वर्ष बहुत दुख देने वाली दत्तक मां के लिए किपलिंग ने 'द वुमन' शब्द का इस्तेमाल किया और उस दत्तक मां के पुत्र को 'द डेविल बॉय' कहा है। वह अपनी रचनाओं में बचपन के उस स्याह दौर को कभी भूल न पाए और जब भी मोगली की ओर देखा, उन्हें राहत का एहसास हुआ। 30 दिसंबर को जन्मे रुडयार्ड किपलिंग (1865-1936) दुनिया के महान लेखकों में गिने जाते हैं। उन्हें महज 41 की उम्र में साहित्य के नोबेल से नवाजा गया था। उनकी तमाम रचनाएं, चिंतन, चरित्र समय के साथ पुराने पड़ गए, पर उनका मोगली आज भी जीवंत है, बच्चों के लिए महानायक की तरह और मां-बाप के लिए चेतावनी की तरह कि कृपया, अपने बच्चों की उंगलियां थामे रहिए।

**गरीब छात्रों के चेहरे रह-रह सताते रहेः** सारे नेता जमीन से उठकर ही आसमान पर पहुंचते हैं, मगर उनमें से ज्यादातर वहीं ऊंचाई पर ठहर जाते हैं। इससे भी बुरा यह होता है कि वे कभी साथ रह रहे गरीबों को भी भूल जाते हैं। चूंकि जमीनी सच आसमान पर अक्सर झूठ मान लिया जाता है, इसलिए जमीनी सच हमेशा से खुरदरा या कांटेदार ही रहा है। न जाने कितने ऐसे कांटों से भरी जमीन पर वह छोटा स्कूल चलता था। उसे कहीं से भी देखिए, कांटे ही कांटे थे, नस्ल का कांटा, संप्रदाय, गरीबी, रंगभेद के कांटे। उसी स्कूल में ऊंचे कद और छरहरे बदन के एक युवा शिक्षक पढ़ाते थे। उनके पास आगे की पढ़ाई के लिए पैसे नहीं थे, तो शिक्षक बन गए थे। उनका समय भी अभाव में ही बीता था। बंद, तंग कमरों में रहते हुए। लोगों के यहां फर्श साफ करते हुए, तो कभी मोजे बेचते हुए, गुजारे के लिए न जाने क्या-क्या काम किए, पर पढ़ाई का साथ न छूटा। कॉलेज में दूसरा वर्ष शुरू हुआ, तो पैसे का बड़ा संकट खड़ा हो गया। पढ़ाई करें, तो पैसे कहां से लाएं? ऐसे में, एक मैक्सिकन स्कूल में पढ़ाने की नौकरी मिल गई। प्रतिमाह 125 डॉलर मिलने थे, तो तय किया कि एक साल पढा लेंगे, जो पैसे जुटेंगे, उससे अगले साल से फिर पढ़ाई चालू कर देंगे।

उस छोटे से बेल्हाउजेन मैक्सिकन स्कूल में एक से बढ़कर एक मजबूर गरीब लड़के और लड़कियां पढ़ने आते थे। कुछ ही दिनों में उस युवा शिक्षक ने स्कूल की पढ़ाई को बाकी समर्पित शिक्षकों के साथ मिलकर सुधार दिया। छात्र-छात्राओं को पढ़ने में बहुत रस आने लगा, मगर बीच-बीच में उनके चेहरों पर अजीब उदासी चिपक जाती थी। वे सोच में डूबे रहते

थे कि पढ़ाई के बाद नई तकलीफदेह जिंदगी शुरू हो जाएगी। रोज एक राहत की तरह मिलने वाला स्कूल बीती बात हो जाएगा। जिस दिन स्कूल से पास होकर विद्यार्थी जाने लगे, उस दिन तो माहौल बेहद गमगीन हो गया। जीवन में सबसे मजबूत सहारा शिक्षा का साथ छूट रहा था और आगे कॉलेज में पढ़ने के दरवाजे बंद थे। तब कॉलेज सभी छात्रों का स्वागत नहीं करते थे और खासकर गरीब छात्रों के लिए तो कोई गुंजाइश ही नहीं थी।

उस दिन युवा शिक्षक को भी उदासी और सवालों ने घेर लिया था। वह सोचने लगे कि क्या इन छात्रों का भविष्य देश का भविष्य नहीं है? ये आगे पढ़ेंगे नहीं, तो क्या देश को नुकसान नहीं होगा ? क्या गरीबी में इतना बल होना चाहिए कि किसी को आगे पढ़ने से रोक दे? जो सरकार गरीबों को पढ़ा नहीं सकती, यह गरीबों से क्या उम्मीद कर सकती है? अगर देश ऐसे वेबस गरीबों के लिए नहीं है, तो फिर किसके लिए है? उसी दिन उस प्रखर युवा शिक्षक ने ठान लिया कि यह राष्ट्र तब तक आराम नहीं कर सकता, जब तक हर अमेरिकी के लिए ज्ञान का द्वार नहीं खुल जाता। सरकार को यह समझना ही होगा कि शिक्षा विलासिता नहीं है, हर किसी की बुनियादी आवश्यकता है।

एक दिन आया, जब यही शिक्षक लिंडन बी जॉनसन अमेरिका के राष्ट्रपति पद पर विराजमान हुए। वह शिक्षक के रूप में उस स्कूल को भूले नहीं, उन छात्र-छात्राओं के उदास चेहरों ने उन्हें बार-बार प्रेरित किया और इसी का नतीजा कि अमेरिका ने 8 जनवरी, 1964 को गरीबी के खिलाफ बड़ी जंग (वार ऑन पोवर्टी) का एलान कर दिया। एक महान समाज के

निर्माण के लिए जॉनसन (1908-1973) ने गरीबी उन्मूलन की तमाम रणनीतियों को आसमान से जमीन पर उतार दिया। शिक्षा और स्वास्थ्य देखभाल संबंधी कानूनों में बदलाव किए। सामाजिक सुरक्षा के तंत्र को मजबूत किया। अमेरिका में गरीब छात्रों को उदार छात्रवृत्ति, मुफ्त शिक्षा और बिन ब्याज ऋण की सुविधा मिलने लगी। जॉनसन के समय अमेरिका ने बुनियादी रूप से जो तरक्की की, उसे आज भी याद किया जाता है।

राष्ट्रपति जॉनसन अपने उस स्कूल को याद करते हुए अक्सर भावुक हो जाते थे। उस स्कूल के उदास चेहरों ने उन्हें अमेरिका में एक से बढ़कर एक, कम से कम 30 कानून बनाने के लिए प्रेरित किया, सारे के सारे कानून अमेरिकी संसद से पास हुए और अमेरिका बदल गया। सबके प्रति उनका व्यवहार बहुत स्नेहिल था। छह फुट और साढ़े तीन इंच लंबे यह राजनेता जब किसी से बात करते थे, तब आंखों में आंखें डालकर करीब से परखते थे और दिल जीत लेते थे। वह अक्सर कहते थे, 'तुम सत्य को जानो और सत्य तुम्हें आजाद कर देगा।' विद्वान आज भी राष्ट्रपति जॉनसन की इस समझ को सलाम करते हैं कि व्यक्ति के लिए शिक्षा उपलब्धि और पूर्णता का मार्ग है; राष्ट्र के लिए यह एक ऐसे समाज का मार्ग है, जो न केवल स्वतंत्र है, बल्कि सभ्य भी है; और दुनिया के लिए, यह शांति का मार्ग है, क्योंकि यह शिक्षा ही है, जो तर्क को बल से ऊपर रखती है।

**हमें कर दिखाने का मौका तो दीजिएः** वह भी लाजवाब जमाना था. देश आजाद हो गया था। तब तोला भर सोने की अंगूठी के लिए करीब सौ रुपये लग जाते थे और आईएएस की परीक्षा में बैठने के लिए 140 रुपये का शुल्क

चुकाना पड़ता था। बीस को हो चुकी यह मलयाली युवती क्लर्क की नौकरी करती थीं और तनख्वाह इतनी नहीं थी कि परीक्षा का फॉर्म भर सकें। वह सोचती थी कि स्नातक करने के बावजूद क्या यह महज क्लर्क रह जाएगी? नए आजाद हुए देश में सबसे बड़ी नौकरी के लिए प्रयास में क्या है। एक बार संघ लोक सेवा आयोग की परीक्षा में बैठकर देखें, कुछ होगा, तो तजुर्बा होगा।

आगे बढ़ने का इरादा पक्का था, तो कदम-कदम पर चुनौतियों से टकराना भी तय था। एक दोस्त की मम्मी ने फॉर्म भरने के पैसे दिए थे। युवती ने पहली ही बार में कामयाबी हासिल कर ली। साक्षात्कार का मौका आया, तो भारतीय प्रशासनिक सेवा में रहने का इरादा जताया। साक्षात्कार लेने बैठे आयोग के प्रमुख ने हतोत्साहित किया, युवती हो भारतीय प्रशासनिक सेवा में मुश्किल होगी, विदेश सेवा या केंद्रीय सेवाओं में से कोई चुन तो? पर वह अड़ गई, प्रशासनिक सेवा में ही जाना है। आयोग के सभी सदस्य अचंभित थे कि बुरे से बुरे हालात देखने पड़ते हैं, कड़े से कड़े फैसले लेने पड़ते हैं किसी लड़की से ये सब कैसे होगा? भला हो, महान संविधान निर्माताओं का, जिन्हेंनि देश में कानून बना दिया था कि रोजगार में लड़का-लड़की के बीच भेद नहीं किया जाएगा। लड़की अड़ गई. तभी वह देश की पहली आईएएस बनी और पहुंच गई अपने कैडर प्रदेश तमिलनाडु। वहां मिल गए दिग्गज नेता और मुख्यमंत्री सी राजगोपालाचारी। आईएएस रूप में युवती को देख चौंक गए। यह कैसे सब-कलेक्टर, कलेक्टर बनेगी, कैसे फील्ड डयूटी में जाएगी? उन्होंने समझाया कि

सचिवालय में कोई काम संभाल लो, जिला जाने की नौबत नहीं आएगी, पर यहां भी वह युवती अड़ गई- नहीं, मुझे आप किसी जिले में ही भेजिए, कृपया, भेदभाव न कीजिए। खैर, राजगोपालाचारी जी ने उन्हें अपने ही जिले होसूर में सब-कलेक्टर तैनात कर दिया। लोगों को विश्वास ही नहीं होता था कि एक महिला सब-कलेक्टर कैसे? उन दिनों कलेक्टर को अक्सर लाठीचार्ज या गोली चलाने का फैसला लेना पड़ता था। पता नहीं, एक महिला ऐसे फैसले कैसे लेगी? ऐसे में, खुद को साबित करना जरूरी था और मौके की तलाश थी। मौका जल्दी ही सामने आया। एक सुबह बंगले के बाहर शोर मच गया। बड़ी संख्या में ग्रामीण जमा हो गए। सव-कलेक्टर साहिबा जल्दी-जल्दी नहाकर निकली। हाथीयों के एक समूह ने गांव पर हमला बोल दिया था भगाएं नहीं भाग रहे थे। ग्रामीणों को जब कुछ न सूझा, तो मदद के लिए सब-कलेक्टर के वहां पहुंच गये। सामने एक महिला को देख बड़े निराश हुए, यह कैसे फैसला लेंगी, कैसे समाधान करेंगी?

पल भर के लिए सब-कलेक्टर भी स्तब्ध हो गई पर कुछ ही पल में उनके दिमाग ने काम करना शुरू किया। हाथियों पर गोली नहीं चलवा सकते, यह ठीक नहीं है। हालांकि, ऐसे मौकों पर जानवरों को मार गिराने का आदेश उन दिनों बहुत आम हुआ करता था। अचानक दिमाग में सूझा कि अगर शोर किया जाए, तो हाथी भाग सकते है। आदेश दिया कि जिसे जो मिले, जोर- जोर से बजाओ, सब मिलकर शोर करो। ग्रामीण टिन, बर्तन इत्यादि लेकर शोर करने लगे। वह भी ग्रामीणों के साथ शामिल हो गई, हाथियों के दल का मुखिया शोर सुन दूर

चल पड़ा। लोग खुश हुए, तो जोश और बढ़ गया। फिर क्या था, वे हाथियों को जंगल तक छोड़ आए। हाथियों की जान भी बच गई और ग्रामीणों की समस्या का भी समाधान हो गया।

तब तमिलनाडू में ही नहीं, बल्कि पूरे देश में इस खबर के साथ खुशी की लहर दौड़ गई कि एक कलेक्टर आई है अन्ना राजम जॉर्ज। सबने माना कि महिलाएं भी कलेक्टर के रूप में कारगर हो सकती है। महिलाओं की राह में रोड़े बिछाने वाले तमाम पुरुषवादी अफसरों को भी एहसास हो गया कि आईएएस के रूप में महिलाओं की पदस्थापना गलत नहीं होगी। अन्ना को चेन्नई से नई दिल्ली तक प्रशासनिक सेवा में खूब मौके मिले और उन्होंने कभी निराश नहीं किया। अब हर साल दसियों युवतियों का चयन आईएएस के लिए होता है और अन्ना राजम जॉर्न (1927-2018) की याद अनायास आती है।

भूलना नहीं चाहिए कि अपने देश में एक समय वह भी था जब अन्ना राजम जॉर्ज को सेवा इस शर्त के साथ शामिल किया गया था कि अगर वह विवाह कर लेंगी, तो उनकी नौकरी चली जाएगी। ऐसी नौबत न आई। अन्ना ने जल्दी ही खुद को काबिल साबित कर दिया और अविवाहित रहने की शर्त हमेशा के लिए इतिहास हो गई।

**आपका देश आपका मंदिर होना चाहिएः** उस दिन आंसू थमने का नाम नहीं ले रहे थे। वह नौजवान एक किताब को लफ्ज दर लफ्ज पढ़ रहे थे और कभी आसमान की ओर, तो कभी जमीन की ओर मुंह किए आंसू बहाए चले जा रहे थे। लिखने वाले इतालवी विचारक म्यूसेप मैजिनी ने क्या खूब लिखा था, हर लफ्ज धारदार, 'आपका देश आपका मंदिर होना चाहिए। शिखर पर ईश्वर और आधार में एक समान लोग।' पर अपना देश तो गुलामी से लहूलुहान है, हम अपने देश को

बचाने के लिए क्या कर रहे हैं? हमें तो एक कदम रखते हुए भी देश का आभार मानना चाहिए, पर क्या हम ऐसा मानते हैं? वह युवा सोच-सोचकर बिलख रहे थे कि कोई इतनी साफगोई से राष्ट्र व राष्ट्र प्रेम के बारे में कैसे बता रहा है। मैजिनी मनुष्य के कर्तव्य बता रहे थे कि आपके लिए देश क्या है? देश आपसे क्या चाहता है? क्या केवल आप ही देश से उम्मीदे लगाए बैठे रहते हैं और देश आपके प्यार के लिए हर पल तरसता रहता है?

देश के बिना आपके पास न तो नाम है, न निशान, न आवाज, न हक, पर ऐसे देश को आपने कितना प्यार दिया? मैजिनी यहां तक लिख देते हैं कि ईश्वर ने आपको मानवता की सेवा के लिए एक देश दिया है। अपने देश में किसी भी तरह की गुलामी और असमानता से मुकाबले के लिए आपका जन्म हुआ है। उस नौजवान की रुलाई रोके नहीं रुक रही है। मैजिनी बताए चले जा रहे थे कि वोट, शिक्षा, कर्म, ये राष्ट्र के तीन मुख्य स्तंभ हैं, जब तक आपके हाथ उन्हें मजबूती से खड़ा न कर लें, आराम न कीजिए। तब अपना देश भारत तो गुलाम था, वोट का सवाल पैदा नहीं होता और शिक्षा का बहुत बुरा हाल था। नौजवान ने मैजिनी के लिखे को बार-बार पढ़ा और हर बार देश व मानवता के लिए आंखें झर-झर बहीं। उन्होंने दूर देश में हुए और समय के साथ बीत गए विचारक मैजिनी को ही अपना गुरु मान लिया। फैसला कर लिया कि अपना तन-मन-धन देश की सेवा के लिए समर्पित कर देना है। धिक्कार है, अभी तक जो जीवन बीता, वह अपने देश के काम न आया।

तब वह तीन रुपये की छात्रवृत्ति और शिक्षक पिता द्वारा भेजे गए 8 रुपये से काम चलाते थे। अक्सर भुखे रह जाते थे, पर देश और समाज सेवा के बारे में निरंतर सोचते रहते थे। सबसे पहले दुनिया को थामना होगा, उससे पहले देश को संभालना होगा और उसके लिए अपने समाज की चिंता करनी पड़ेगी और उससे भी पहले अपने परिवार की रक्षा करनी पड़ेगी।

संयोग से उन्हीं दिनों वह आर्य समाज से जुड़े और उससे अपने राष्ट्रवाद का मेल बिठाया। अंधविश्वास से दूर, वैज्ञानिकता और ज्ञान से भरपूर उनके राष्ट्रवाद ने उन्हें एक प्रभावी वक्ता बना दिया और लोग उन्हें लाजपत राय के नाम से जानने लगे। उनके सामने घर में ही चुनौतियां कम नहीं थी। दादा जैन थे। पिता एक ऐसे हिन्दू, जो किसी भी मुस्लिम से कम नहीं थे और मां सिख विधि-विधान में जी रही थीं। पिता तो तभी मुस्लिम हो जाते, जब लाजपत राय दो साल के थे। तब ऐन मस्जिद की सीढ़ियों पर मां ने पिता को घेर लिया था कि 'ऊपर वाले नेकी मर्जी समझो, उसने जिस धर्म में पैदा किया, उसी में रहो, बच्चों की सोचो, मैं तो धर्म न बदलूंगी।' पिता तब भी दृढ़ थे, पर शिशु लाजपत राय इतनी जोर से रोए कि तमाशा खड़ा हो गया, पिता नजरें झुकाए अपना परिवार लिए सीढ़ियां उतर आए।

बहरहाल, आर्य समाज ने लाजपत राय को मजबूत किया और उन्होंने पिता को भी समझाया कि कौन कहता है मूर्ति पूजा कीजिए, सगुण न सही, निर्गुण स्वरूप में ईश्वर को मानिए और वेद व सनातन को समझिए। उसके आडंबरों के अंदर मूल तत्व को जानिए। पिता को समझ आई कि बेटे की

राह सही है। महत्व धर्म का उतना नहीं, जितना देश और उसकी आजादी का है। । देश सुखी और मजबूत होगा, तो उससे धर्म की ही शोभा बढ़ेगी।

अनेक समाजसेवा संस्थान, डीएवी शिक्षा संस्थान, पंजाब नेशनल बैंक, लक्ष्मी बीमा कंपनी, इत्यादि अनेक संस्थानों की रचना लाला लाजपत राय (1865-1928) ने की थी। 28 जनवरी को जन्मे लाला कोरे राजनेता नहीं थे, यह जमीनी काम करने वाले आदर्श समाजसेवी थे। स्वभाव से निडर, खूब मेहनती और दिखावे से कोसों दूर। लाजपत राय ऐसे स्वतंत्रता सेनानियों में शामिल रहे, जिन्होंने स्वराज्य को सबसे पहले समझा, कांग्रेस को बाद में समझ आई और स्वतंत्रता आंदोलन के तेवर तीखे हुए। उन्होंने साइमन कमीशन के विरोध में प्रदर्शन करके लाठियों की बौछार सही थी और इसी वजह से उनकी शहादत हुई। यह शहादत भारत की आजादी की लड़ाई का एक सबसे निर्णायक पल साबित हुई। उसके बाद गरम दल के नेता हों या नरम दल के, आजादी के रणबांकुरों ने पीछे पलटकर नहीं देखा।

**'मैं कौन हूं' जानने वह भारत आ गएः** कभी राम आए थे। अवतार हुआ था, उन्होंने मर्यादा पुरुषोत्तम स्वरूप को साकार किया और फिर एक दिन अयोध्या में सरयू में लीन हो गए। संसार में मानव जीवन का श्रेष्ठतम व्यावहारिक भाव-राम भाव संसार में सदा के लिए रह गया, वह चले गए, पर राम कौन थे? राम अर्थात साक्षात नारायण, जो राम रूप से पहले परशुराम रूप में विराजमान हुए थे और राम के बाद कृष्ण रूप

में अवतरित हुए, तो हम ठीक से जानते हैं कि तपस्वी राजा राम कौन थे, पर हममें से कितनों ने सोचा है कि में कौन हूं?

'मैं मौरिस फ्राइडमैन हूं,' यही तो वह विद्वान यहूदी इंजीनियर मानते आए थे। बाकी लोग भी यहीं मानते हैं, हम बस यही है, जो माता-पिता ने नाम रखा है। कोई पीटर है, तो कोई प्रकाश, कभी यह सवाल ही नहीं पैदा होता कि यह पीटर कौन है और प्रकाश क्या तत्व है? मौरिस फ्राइडमैन भी कभी नहीं सोचते थे कि वह कौन हैं? पर मन में एक बेचैनी-सी बनी रहती थी, अपनी यहूदी शैली को पूरा खंगाल लिया, फिर चर्च में चैन तलाशने लगे, पर उनके जीवन में क्रांति तब हुई जब एक सज्जन लेखक पॉल बंटन की पुस्तक ए सर्च इन सीक्रेट इंडिया हाथ लगी। उसमें एक प्रसिद्ध भारतीय संत रमन महर्षि के विचार थे जिन पर पॉल बंटन ने बहुत भक्ति भाव से लिखा था। पुस्तक में यह प्रश्न पुरजोर उठता है, में कौन हूं? इस प्रश्न ने मौरिस को झकझोर कर रख दिया? वह सोचने लगे, यह तो आज तक जान नहीं पाया कि में कौन हूं। और तो और, यह प्रश्न ही कभी मन में नहीं आया। क्या गजब प्रश्न है, में कौन हूं? तो कैसे और कहां मिलेगा इसका उत्तर, तब मौरिस के मन में भारत जाने की तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई। वह भारत पहुंचने के लिए एकदम बेचैन हो उठे। कहा जाता है, आप दिल से इच्छा कीजिए, ती इच्छा ही अपना रास्ता तैयार करने लगती है। ऐसा ही हुआ। सौभाग्य से भारत में ही इंजीनियरिंग का एक काम निकल आया और मौरिस भारत पहुंच गए। यहां उन्होंने संतों के साथ मिलना शुरू किया। रमन महर्षि से भी दिव्य भेंट

हुई, पहले ही संवाद में बहुत गहरा असर हुआ। मौरिस ने निवेदन किया कि मुझे शिष्य बना लीजिए। रमन महर्षि एक विदेशी को शिष्य बनाने से पहले कुछ इंतजार करना चाहते थे, पर मौरिस को लग रहा था कि बहुत समय गंवा दिया और अब जब कुछ समझ आई है, तो आगे एक भी पल गंवाना ठीक नहीं है। गोस्वामी तुलसीदास भी ने लिखा है अबलौ नसानी, अब न नसैहौं। राम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागे फिरि न डसैहौं। बहुत जल्दी मच गई कि साधु हो जाएं, संत भाव को समर्पित हो जाएं, ताकि पता तो चले कि में कौन हूं। संत रामदास जी से उन्होंने दीक्षा ले ली, नाम हो गया स्वामी भरतानंदा।

विद्वान, स्नेहिल और व्यवहारकुशल भरतानंदा अपने समय के तमाम दिग्गज व्यावहारिक संतों के सत्संग में रहते थे। तमाम तरह के अंधविश्वास से दूर, हर चीज को इंजीनियरिंग के पैमाने पर परखते हुए। आध्यात्म-ज्ञान ध्वजवाहक जे कृष्णामूर्ति के साथ उनको तीखी बहस होती थी, तो संत निसर्गदत्त के साथ घंटों यह भगवद् प्रेम में डूबे रहते थे। मित्रवत मार्गदर्शक संत रमन महर्षि अक्सर कहते थे कि मौरिस मूलतः भारतीय है, बस पश्चिम में पैदा हो गए थे और अब स्वदेश लौट आए हैं।

वाकई भरतानंदा पर संतई और भारतीयता का रंग बहुत आसानी से चढ़ गया। सदा जाप, ध्यान, सत्संग में रहने लगे। जीवन में कम से कम बाह्य चीजों का सहारा लेने लगे। फिर जो खुशी उन्हें मिली, उसका आनंद उनके चेहरे पर मुखर रहने लगा। वह एक दिन जब गांधीजी से मिले, उन्हें चरखा

दिखा। उन्होंने अपने इजीनियरिंग ज्ञान से ऐसे चरखे बनाए, जो ज्यादा तेजी से सूत कात सकते थे, तो गांधीजी का काफी समय बचने लगा। गांधीजी ने उन्हें सदा भरतानंदा नाम से ही पुकारा। दस से ज्यादा भाषाओं के ज्ञाता मौरिस फ्राइडमैन अर्थात भरतानंदा (1901-1976) ने एक पुस्तक की रचना की, जो मैं हूं। 'हू आई एम' के जवाब में 'दैट आई एम'। वह भारत में ही रहते हुए किसी विद्वान ऋषि की तरह गूढ़ पद्य लिखने लगे। पश्चिम में जन्मे व्यक्ति का सौभाग्य देखिए, जब वह प्रसन्नचित्त संसार से बिदा हुए, तब भारत के बड़े संतों की गोद उन्हें हासिल थी। उन्होंने लिखा है, 'हम तब परिपक्व होते हैं, जब हम बहने से इनकार कर देते हैं, जब अंतदृष्टि से पैदा हुआ वैराग्य सहज हो जाता है, जब खोज मैं कौन हूँ ही एकमात्र ऐसी चीज बन जाती है, जो मायने रखती है, जब हम केवल एक मशाल बन जाते हैं और लौ ही महत्वपूर्ण हो जाती है, तो इसका मतलब यह होगा कि हम तेजी से पक रहे हैं। हम उस परिपक्वता को तेज नहीं कर सकते, पर हम भय और लालच, आलस्य और कल्पना, पूर्वाग्रह और गर्व की बाधाओं को दूर कर ही सकते हैं।

**सेहत के लिए जादुई गोली की तलाशः** संगत बुरी हो, तो तबाही में उतार देती है और अच्छी संगत से इंसान महानता की सीढ़ियां सरपट चढ़ने लगता है। खासकर बच्चों पर सिर्फ इंसानी संगत ही नहीं, बल्कि अन्य चीजों व मशीनों का सबसे ज्यादा असर होता है। उस जर्मन यहूदी बालक के मन को भी एक मशीन ने मोह लिया। क्या गजब मशीन थी, किसी भी चीज को अनेक भागों में बांट देती थी। मानव कोशिकाएं हों या

रक्त की बूंदें, वह मशीन बहुत सहजता से एक कण से अनेक कण और अनेक कणों से सैकड़ों कण निकालने में माहिर थी। जब ऐसी मशीन से पाला पड़ा, तब बालक की उम्र बमुश्किल नौ साल रही होगी, वह बार-बार मशीन को निहारता था। देर तक गहराई से समझता था कि मशीन में कौन-सा यंत्र क्या काम करता है, कैसे करता है। मशीन का नाम माइक्रोटोम्स था. माइक्रोबायोलॉजी से जुड़ी वह मशीन उस जमाने में चंद लोगों के पास ही थी, इसलिए भी वह उस स्कूली बालक को बहुत लुभा रही थी। मशीन के मालिक थे उस बालक के एक ममेरे भाई, उम्र में बस 19 थे, पर उसी उम्र में असाध्य रोगों के पीछे लग गए थे। वह दोस्त भी थे, तो उस मशीन के बारे में बताते हुए थकते नहीं थे। विस्तार से बताते थे कि इस मशीन के जरिये दुनिया में तमाम रोगों के विषाणुओं की पड़ताल मुमकिन है।

उस दुर्लभ मशीन को देख बालक ने तय कर लिया कि अब ऐसी ही मशीनों के साथ रहना है और दुनिया के तमाम असाध्य रोगों के विषाणुओं के पीछे हाथ धोकर पड़ जाना है। पता नहीं, कैसे-कैसे रोग पनप रहे हैं। डॉक्टरों के पास सबका इलाज नहीं है. पर माइक्रोटोम्स से इलाज खोजना संभव है। सोच की दशा से पढाई की दिशा भी बदली और दुनिया को बेहतरीन चिकित्सक वैज्ञानिक पॉल एर्लिच नसीब हुए। वह दिन-रात शोध में लगे रहते थे। विषाणुओं को जीवाणुओं के बीच से कैसे पकड़कर अलग किया जाता है ? विषाणु कैसे नौ दो ग्यारह होने की साजिश में लगे रहते हैं? विषाणु खुद को जीवाणुओं के बीच कैसे छिपाते हैं और कैसे मौका मिलते ही अपनी आबादी का विस्फोट करते हैं। विषाणु कैसे रंग बदलते है और उनके रंग-ढंग को कैसे नियंत्रित किया जा सकता है? श्वेत

और लाल रक्त कोशिकाओं की समझने और अलग करने की विधि का आविष्कार उन्होने ही किया। उन्होंने ही बताया कि मानव कोशिकाओं में रासायनिक प्रतिक्रियाएं लगातार होती है और सही रासायनिक एजेंटों का उपयोग रोगग्रस्त कोशिकाओं को ठीक करने या संक्रामक विषाणुओं को नष्ट करने के लिए किया जा सकता है, इस सिद्धांत ने चिकित्सा निदान और उपचार विज्ञान में नई क्रांति को जन्म दिया। दुनिया के अनेक वैज्ञानिक रक्त में रोग खंगालने के कार्य में जुट गए। दिन-रात प्रयोग में लगे रहने वाले एर्लिच ने तंत्रिका संबंधी विकारों के उपचार में मेथिलीन ब्लू के उपयोग की भी खोज की। टायफायड, बुखार और नेत्र रोग उपचार को भी उन्होंने आसान बनाया। हालांकि, दुर्भाग्य देखिए, उन्हें तपेदिक से निरंतर जुझना पड़ा। एक बार तपेदिक की वजह से उन्हें प्रयोग छोड़कर बैठने के लिए मजबूर होना पड़ा, पर मानव शरीर में फेरा लगाते विषाणुओं ने उन्हें फिर ललकारा और पॉल फिर उनके खिलाफ युद्ध में उतर आए। तब तक कैसर असाध्य रोग बन चुका था, इस महारोग की चुनौती को भी पॉल एर्लिच (1854-1915) ने स्वीकार किया और यह सिद्ध किया कि कैंसर जैसे घातक विष को भी एक तरह के रसायन या विष को यथोचित मात्रा से परास्त किया जा सकता है। एक ऐसा विष या द्रव्य तैयार किया जा सकता है. जो मानव शरीर में जाकर विषाणुओं पर ही प्रहार करे। उपचार के ऐसे तत्वों की खोज आसान नहीं थी, पर एक दो ऐसे तत्वों की खोज में वह सफल हुए। यह उस प्रसिद्ध कीमोथैरेपी का आविष्कार था, जिसे आज कैंसर के खिलाफ राम बाण की तरह इस्तेमाल किया जाता है। पॉल एर्लिच ने 115 साल पहले ही बता दिया था कि सही

समय पर कैंसर का पता लग जाए, तो कीमोथैरेपी से जीवन बचाया जा सकता है।

दुनिया हर साल 4 फरवरी को कैंसर दिवस मनाती है और पॉल एलिंच को याद करती है। उन्हें चिकित्सा शास्त्र में योगदान के लिए साल 1908 में नोबेल से सम्मानित किया गया था। वह एक जादुई गोली को तलाश में लगे थे, ताकि एक गोली से ही उपचार संभव हो जाए। दुनिया से जाते-जाते उन्होंने जादुई गोली या मैजिक बुलेट का स्वरूप तैयार कर लिया था। उनके पास समय कम था और काम बहुत ज्यादा। युवा उन्हें घेर लेते थे और पूछते थे कि आपने इतने आविष्कार कैसे किए? वह बिना समय गवाए आगे की राह बताते थे, 'अनुसंधान में सफलता के लिए चार चीजें जरूरी है भाग्य, धैर्य, कौशल और पैसा।'

**अनुपम निडरता से पाखंड पर प्रहारः** टंकारा पहुंचने के लिए अरब सागर की हवा को महज पचपन किलोमीटर की दूरी तय करनी पड़ती है। यहां से कृष्ण की द्वारका भी बस दो सौ किलोमीटर दूर थी, जहां कृष्ण ने मथुरा से बारह सौ किलोमीटर दूर सुंदर नगर बसाया था। कृष्ण ने अपने समय में पाप के विरुद्ध महाभारत किया था और तब धर्म का राज आया था, पर धीर-धीरे अधर्म फिर बढ़ा, तो महावीर और बुद्ध आए। फिर चेतना का संचार हुआ, मगर कुछ ही सदियों में चेतना पर फिर अंधविश्वास के बादल मंडराने लगे। कुरीतियों ने गुजरात के टंकारा में भी धर्म की महिमा पर फन फैला रखा था।

उसी टंकारा में एक चौदह वर्षीय किशोर मूलशंकर तिवारी रहते थे। धर्मग्रंथ उन्हें कंठस्थ होने लगे थे, तो पिता ने सोचा, यही समय है, शिवभक्ति के संस्कार उत्पन्न हो जाएंगे,

तो जीवन भर काम आएंगे। शिवरात्रि के दिन पिता अपने प्रिय पुत्र को भी मंदिर ले गए, तब शिवरात्रि के दिन अन्न और नींद के त्याग का बड़ा हल्ला था। दिनों पहले से ही लोग चर्चा करने लगते थे कि मंदिर में ही पुजन, उपवास और रात्रि जागरण करना है। उस रात भी मंदिर में पूजन-भजन के बाद लोग जागने के लिए बैठे, पर एक- एक कर नींद की आगोश में जाने लगे। कोई मंदिर में ही पूरा लेट गया, तो कोई अधलेटे खर्राटे खींचने लगा। नींद का प्राकृतिक झोंका ऐसा चला कि जागने का सारा अंधविश्वास ढेर हो गया। मूलशंकर के पिता की भी आंखें लग गई। रात चढ़ी, तो मंदिर में सब सो रहे थे और मूलशंकर जाग रहे थे कि पूजा का पूरा फल जागने पर ही मिलता है, वरना शिवजी नाराज हो जाएंगे, पर यह क्या, शिवलिंग पर तो बड़े-बड़े चूहे चढ़े हुए थे। भोग सामग्री पर भी मुंह मार रहे थे। मूलशंकर को इंतजार था कि शिवजी प्रतिक्रिया करेंगे, चूहों को भगाएंगे, पर समय निकाला जा रहा था। मूलशंकर सोचने लगे कि पिता को जगाया जाए। नींद में खलल से पिता कहीं नाराज न हो जाएं, मगर उन्होंने साहस किया और पिता को जगाकर पूछा, 'शिवजी पर चूहे क्यों चढ़े हैं, भोग चूहे क्यों खा रहे हैं, शिवजी शक्तिशाली हैं, तो स्वयं को बचाते क्यों नहीं?

बहस बढ़ीं, तो पिता ने कहा, 'असली शिवजी कैलास में रहते हैं?' पुत्र ने प्रश्न किया, 'तो हम नकली की सेवा क्यों कर रहे हैं?' पिता यथोचित समाधान नहीं कर पाए, तो पुत्र के मन में प्रश्नों का अंबार लग गया। मन बोल पड़ा, सेवा का अधिकार तो केवल असली शिव को है. नकली से जुड़ा इतना कर्मकांड

किस काम का ? ऐसी श्रद्धा किस काम की जो शिवजी के लिए जाग नहीं सकती। सब बेसुध आराम फरमा रहे हैं, शायद सब जानते हैं कि यहां आस-पास ईश्वर कहीं नहीं है।

मूलशंकर उसी रात मंदिर से घर आ गए, मां को जगाया, उपवास तोड़ा और अगले दिन पिता की फटकार का निडर सामना किया। नकली से अश्रद्धा हो गई और असली की आकांक्षा मन में उमड़ने लगी। वह शास्त्रों में खोजने लगे। उन्हीं दिनों पूजा- प्रार्थना के बावजूद छोटी बहन चल बसी पर यह जरा भी नहीं रोए। कुछ दिन बाद प्रिय सदाचारी चाचा के निधन पर खूब रोए कि एक दिन हर कोई संसार छोड़ जाएगा, पर जो समय है, उसे असली की खोज में लगाया जाए। उन्होंने विवाह से पहले ही बीस की आयु में घर छोड़ दिया, गुरु और ज्ञान की खोज में गुजरात से गोमुख तक भटके। नाम पाया- स्वामी दयानंद सरस्वती।

भारतीय समाज के एक बड़े हिस्से को उन्होंने अंधविश्वास से उबारा। यह उपदेश देते थे कि नकली में न डूबों, असली को समझो और उस धर्म की रक्षा करो, जो वेदों में वर्णित है। धर्म का मर्म समझो और मात्र मूर्ति को ही ईश्वर समझने की गलती न करो। पूरे देश में उनके तार्किक ज्ञान की गूंज हुई। दयानंद सरस्वती (1824-1883) ने ही सबसे पहले आह्वान किया कि भारत भारतीयों का है। वह 200 साल पहले जन्मे थे और 150 वर्ष पहले उन्होंने आर्य समाज की स्थापना की थी।

बचपन की निडरता उनके स्वभाव में अंत तक बनी रही। रंक और राजा, दोनों से वह समान व्यवहार करते थे। एक दिन जोधपुर के राजा को उन्होंने एक गणिका के साथ देख

लिया, तब उन्होंने बिना डरे राजा को खूब फटकारा था, 'धिक्कार है राजन ! राजा लोग सिंह समान समझे जाते हैं। ऐसे वीरशार्दूल का किसी कृपणा से प्रेम करना और आसक्त हो जाना सर्वथा अनुचित है। इस दुर्व्यसन को तत्काल तिलांजलि दे देनी चाहिए।'

राजा लज्जित हुए थे, पर राजा को बिगाड़ने में अपना हित देखने वालों ने दयानंद सरस्वती को धोखे से विष पिला दिया था। मूर्ख शत्रुओं ने यही सोचा था कि दयानंद के अवसान के बाद उनके आर्य समाज और उत्तम ज्ञान का भी लोप हो जाएगा, पर ऐसा नहीं हुआ। ऐसे महापुरुष के अवतरण के दो सौ साल बाद भी उनकी पाखंड खंडिनी पताका अविरल लहरा रही है।

**जब पढ़ाई ने विवाह से बाल-बाल बचाया :** तब शिक्षा का बहुत बुरा हाल था, देश में 100 में से 98 महिलाओं के लिए काला अक्षर भैंस बराबर था। न जाने कैसे समाज में यह कुविचार किसी मानसिक महामारी की तरह फैला हुआ था कि बेटियां पराया धन होती है एक दिन उन्हें दूसरे घर चले ही जाना है, तो ऐसे धन को भला कोई क्यों ज्यादा चमकाए बढ़ाए ? ज्यादातर माता-पिता न बेटियों से कोई उम्मीद रखते थे और न यह चाहते थे कि बेटियां उनसे कोई उम्मीद रखें। तो कुल मिलाकर कोशिश यही रहती थी कि पराए धन को जल्दी से जल्दी सही ठिकाने पर पहुंचा दिया जाए। वैसे भी बेटियों के साथ भाग्य का रोना तो जबरन नत्थी किया जाता रहा है। अनेक लोग बहुत गर्व से सुनाते हैं कि अबला जीवन हाय तुम्हारी यहीं कहानी, आंचल में है दूध, आंखों में पानी।

खैर, केरल की उस लड़की की खुशकिस्मती थी कि उसके सात भाई थे और पांच बहनें। उसने एक-एक बहन को जुदा होते और भाभियों को आते देखा था। हर बार एक ही कहानी दोहराई जाती थी, एक था दूल्हा राजा, एक थी दुल्हन रानी और फिर उनके ढेरों राजकुमार। विवाह होते ही जिंदगी भेड़चाल में घुस जाती थी। भेडचाल में फंसने से बचने के लिए ही उस लड़की ने मन लगाकर पढ़ाई की। जाति से भी कमतर थी और ऊपर से लड़की, उसकी कौन सुनने वाला था? तब सब यही मानते थे कि शौक है इस लड़की को कुछ किताबों का, पलट लेने दो, आखिर लौटकर गृहस्थी के जहाज पर ही आना है। फिजूल ही विज्ञान पढ़ रही है कि हाइड्रोजन में ऑक्सीजन मिले, तो क्या बनता है: असल में पूरी जिंदगी करना तो यही है न कि चावल- उड़द में कितना पानी मिलाकर अच्छा डोसा बनता है।

खैर, वह पढ़ती चली गई। उनकी दूसरी बहनें भी पढ़ने में ठीक थीं, पर किसी ने भी परंपरा से अलग चलने की हिम्मत नहीं दिखाई। चुपचाप जहाँ विवाह हुआ, वहाँ चल पड़ीं। इधर, देखते- देखते उस तेज युवती ने वनस्पति विज्ञान अर्थात बॉटनी में स्नातक कर लिया और चुपचाप कॉलेज में पढ़ाने लगीं। कुछ न कुछ करके विवाह को टालती रहीं, पर एक मोड़ ऐसा आया. जब विवाह टालना मुश्किल हो गया, विवाह होते ही नौकरी का छूट जाना तय था। आसपास ऐसी कुछ लड़कियां थीं, जिनसे वादे किए गए थे कि विवाह के बाद भी पढ़ाई या नौकरी करने दी जाएगी, पर उन वादों को गृहस्थी के तेज भंवर के हवाले कर दिया गया। न जाने कितनी लड़कियां अपने टूटे सपनों की

चुभन और अफसोस के साथ जिंदगी गुजार देती हैं? क्या फिर यही होगा? पहले विवाह और फिर अंधी भेड़चाल।

शायद संयोग ही था. निर्णायक मोड़ आ गया। जब वह मद्रास के महिला क्रिश्चियन कॉलेज में कक्षा ले रही थीं, उन्हें यह सूचना किसी वरदान की तरह मिली कि उन्हें प्रतिष्ठित बारबोर छात्रवृत्ति प्राप्त हुई है और उच्च शिक्षा के लिए अमेरिका जाना है। तब पढ़ाकू युवती की खुशी का ठिकाना नहीं था। अमेरिका के सबसे शानदार शिक्षा संस्थान मिशिगन यूनिवर्सिटी में वनस्पति विज्ञान की पढ़ाई करनी थी। नौकरी वह कर ही रही थीं, अब छात्रवृत्ति ने और मजबूत कर दिया था। उन्होंने परिवार में एलान कर दिया कि पहले पढ़ाई कर लौट आऊ, बाद में विवाह करूंगी। शिक्षा में इतनी शक्ति थी कि कोई उन्हें रोक न पाया। अब यह इतिहास में दर्ज है कि वह युवा वैज्ञानिक जानकी अम्मन बॉँटनी में पीएचडी करने वाली पहली भारतीय महिला हैं। उन्होंने अमेरिका में ही बैगन की एक नई किस्म विकसित की, जिसका नाम है जानकी ब्रिंजल। भारत लौटकर उन्होने गन्ना को ज्यादा मीठा बनाने में जोर लगाया और कामयाब हुई।

भारत की आजादी के बाद पंडित जवाहरलाल नेहरू ने जानकी अम्मन (1897-1984) को बॉटनिकल सर्वे ऑफ इंडिया के पुनरोद्धार के लिए लंदन से विशेष रूप से आमंत्रित किया। उन्हें पद्मश्री से नवाजा गया। कभी हार न मानने वाली वह अद्‌भुत विदुषी प्रयोगशालाओं और वैज्ञानिक संस्थाओं की दफ्तरी राजनीति से दूर जंगलों-बगीचों-खेतों में पेड़-पौधों को परखती घूमती रहती थीं। उत्पादन और गुणवत्ता बढ़ाने में दिन- रात लगी रहती थीं। आज भी कई पौधे और फूल खिलते हैं जिनके साथ जानकी अम्मन नाम जुड़ा है। ब्रिटेन में भी रॉयल

हॉर्टिकल्चर सोयायटी के प्रांगण में मैगनोलिया के विशेष सुंदर श्वेत फूल खिलते हैं, जिन्हें देखकर विदेशी वनस्पति वैज्ञानिक भी कह उठते हैं कि जानकी अम्मन की खूबसूरती तो देखो। बहरहाल, वह बहुत आगे बढ़ गई और विवाह की बात बहुत पीछे रह गई। लोग चर्चा करते थे, 'तेरी उम्र हो गई, विवाह न हुआ, तेरा क्या होगा जानकी ?' इस पर उन्हें दोटूक जवाब मिलता था, 'दुनिया मुझे मेरे काम से याद रखेगी।'

**दुनिया को ऐसे मिला क्रिकेट का जादूगरः** वह बच्चों को अच्छी जगहों पर ले जाने कुछ नया दिखाने सिखाने का दौर था। मौका मिलते ही बच्चों को साथ लिए किसी मॉल में दिखावे का चलन नहीं आया था। ज्यादातर पिता बच्चों को किसी ऐसी जगह ले जाते थे, जहां बालमन का सकारात्यक विकास हो और इसी मकसद से ऑस्ट्रेलिया के वह पिता भी अपने 13 वर्षीय सबसे छोटे पुत्र को लिए सिडनी पहुंचे थे। सिडनी क्रिकेट ग्राउंड, एक बेहतरीन मैदान, क्रिकेटका अदभुत सुंदर गढ़। 25 फरवरी का ही दिन था। गुनगुनी धूप में गुलाबी ठंड लिए हंवा बार-बार सहला जा रही थी। प्रसिद्ध एशेज श्रृंखला का पांचवां टेस्ट खेला जा रहा था। इंग्लैंड की टीम बल्लेवाजी कर ही थी और मैदान में ऑस्ट्रेलियाई टीम के तमाम दिग्गज क्षेत्ररक्षण करते नजर आ रहे थे। वह लड़का अचंभित था, वहां क्रिकेट के साथ बहुत कुछ था। कहीं ठहाके, कहीं शोर, कहीं अपने प्यारे खिलाड़ियों से सीधे संवाद की कोशिश, कभी नारे, कभी जयकारे। कोई गेंदबाजों से विकेट गिराने की मांग करता था, तो कोई चौके की तमन्ना लिए बल्लेबाजों को ललकारता था। कहीं से संगीत की लहरियां उठ रही थीं, तो कहीं से पकवानों

की खुशबू। स्थानीय टीम अच्छा खेल रही थी, तो सबके चेहरे खिले हुए थे। पहले विश्व युद्ध के बाद का वह माहौल ऐसा था, मानो कोई विशाल महोत्सव चल रहा हो।

वैसे उस सजग लड़के को एहसास था कि यह पूरा मेला- मजमा अच्छी क्रिकेट देखने के लिए लगा है। अच्छी क्रिकेट मतलब अच्छे खिलाड़ी, जिनका नाम सुन लोग दूर-दूर से चले आए हैं। दूसरे दिन का खेल जब शुरू हुआ तब उस लड़के के सबसे प्रिय खिलाड़ी जॉन टेलर बल्लेबाजी कर रहे थे। हालांकि, टेलर ज्यादा नहीं चले, मगर दूसरी छोर पर चार्ल्स मैकार्टनी को रोकना मुश्किल था। अंग्रेज गेंदबाजों की खैर नहीं थी। मैकार्टनी ऐसी धुआंधार बाल्लेबाजी कर रहे थे कि लोगों को बाकी नजारे देखने का मौका ही नहीं मिल रहा था। उस लड़के ने महसुस किया कि अच्छा खेलना कितना जरूरी है जब कोई अच्छा खेलता है, तो तमाम लोगों को नजरें उसी पर टिक जाती हैं। मैकार्टनी ने पचास रन पूरे किए, सौ रन पूरे किए, एक सौ पचास रन भी पार कर गाए। लोगों की खुशी का ठिकाना नहीं था, सबको जुबान पर एक ही नाम था मैकार्टनी। खैर, जब मैकार्टनी का विकेट गिरा, तब तक उनके खाते में 170 रन जुड़ चुके थे, जिसमें 20 तो चौके थे। तब छक्कों का जमाना नहीं था, खिलाड़ी बहुत अनुशासन के साथ जमीनी खेल में विश्वास करते थे और मैकार्टनी के खेल में यह विश्वास भरपूर झलका था। उस दिन का खेल जब खत्म हुआ, तो उस लड़के का मन न हुआ लौटने का। पिता खड़े हो गए कि 'चलो, आज घर लौटना है। हम 25 और 26 फरवरी का मैच देखने के लिए ही आए थे कल 27 को मैच का रेस्ट डे है।' पर स्टेडियम

से लौटने का मन ही नहीं करता था। पता नहीं, फिर कब ऐसा मैदान और शानदार खेल देखने को मिलेगा। फिर मन में आया कि काश, ऐसे मैदान में खेलने का मौका मिलता, लोग देखने आते तालियां बजाते।

लड़के ने पूरी दृढ़ता के साथ पिता को सुनाया, 'पापा, एक दिन जरूर मैं इस मैदान पर खेलूंगा।'

हंसमुख पिता मुस्कराकर रह गए। वह अपने लड़के को जानते थे, जो अच्छी टेनिस, रम्बी खेलता था और कभी-कभी क्रिकेट भी। खैर, सिडनी से लौटकर वह लड़का घर पर एक जगह दीवार के सहारे अकेले घंटों अभ्यास करने लगा। हाथ में बल्ले की जगह विकेट का एक डंडा होता था और टेनिस बॉल सामने दीवार से टकराकर बार-बार कूदती आती थी और तब एक डंडा ही बल्ला बन जाता था। मैकार्टनी का खेल देखकर ही मन में यह बात बैठ गई थी कि खेलो, तो ऐसे तेज खेलो कि लोग लगातार निहारते-सराहते रहे। लड़के ने अपना पूरा ध्यान क्रिकेट पर लगा दिया कि एक दिन सिडनी के मैदान पर खेलना है। बस छह साल लगे और वह राष्ट्रीय टीम में शामिल कर लिया गया। बस एक पहला मैच अच्छा नहीं बीता और उसके बाद तो दुनिया जान गई कि डॉन ब्रैडमैन नाम के एक बल्लेबाज ने दुनिया के तमाम गेंदबाजों के लिए काल बनकर अवतार लिया है।

ब्रैडमैन (1908-2001) ने अपने बल्ले से रनों के जो पहाड़ बनाए, उनमें से कुछ पर पता नहीं कोई चढ़ पाएगा या नहीं। महज 52 टेस्ट और 99.94 का अविश्वसनीय औसत। 29 शतक 12 दोहरे शतक और दो तिहरे शतक। वह 25 फरवरी को ही दुनिया से विदा हुए थे। वह बार-बार प्रेरित करते थे कि

जब ठान लो, तो करके दिखाओ। लगन और मेहनत से सब संभव है। वह कहते थे कि मैं कभी प्रशिक्षित नहीं हुआ और न मुझे कभी बताया गया कि बल्ला कैसे थामा जाता है।

**त्रेता से कलियुग तक महानायक रामः** भगवान श्रीराम आज से हजारों साल पहले त्रेता में हुए थे। यह इतिहास में अकेले ऐसे पात्र हैं, जो तब से लेकर आज तक लगातार प्रासंगिक बने हुए हैं। गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं, पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्, यानी पवित्र करने वालों में मैं वायु और शस्त्रधारियों में मैं राम हूं।

सवाल है कि श्रीराम हैं कौन? राम वह पुत्र हैं, जो पिता की एक बात पर सिंहासन त्यागकर वनवासी हो जाते हैं। राम वह पति हैं, जो सिंदूर की सौगंध निभाने के लिए भालुओं और वानरों की सेना लेकर दुनिया के सबसे शक्तिशाली असुर से लड़ जाते हैं। राम वह भाई हैं, जो मूच्छित पड़े लक्ष्मण के सिरहाने बैठकर मृत्यु को चुनौती देते हैं- आज या तो मेरा भाई आंखें खोलेगा या मैं भी अपनी आंखें मूंदकर हमेशा के लिए बगल में सो जाऊंगा। श्रीराम के फलक को देखिए, उनमें सातों समुद्रों को सुखा देने का तेज है, लेकिन वह इतने विनम्र हैं कि तीन दिन तक समुद्र के सामने हाथ जोड़े खड़े रहते हैं। अयोध्या के मखमली बिछौने एक ही रात में सूखे पत्तों के बिस्तर में बदल गए, लेकिन उनके चेहरे पर शिकन तक नहीं आई। श्रीराम 'अधिकार' से ज्यादा 'त्याग' हैं, जो अयोध्या की मिट्टी के लिए लंका का सोना त्याग सकते हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाने का अधिकार सिर्फ उन्हीं को है, इसलिए उनके हर रूप अनुकरणीय और प्रिय लगते हैं।

श्रीराम का चरित्र जानने के लिए आप आदिकवि महर्षि वाल्मीकि से लेकर बाबा तुलसीदास तक किसी को भी पढ़ सकते हैं। दुनिया भर में 300 प्रकार की रामकथाएं प्रचलित हैं। मगर किस्से-कहानियों और किताबों से इतर मैं मानता हूं कि श्रीराम पढ़ने से ज्यादा मनन करने का विषय हैं। आप किताबें कौन सी पढ़ते हैं, इससे ज्यादा महत्वपूर्ण यह है कि आप अपने जीवन में राम की आभा को उतारने में कितना सक्षम हो सके हैं। मैं भाग्यशाली हूं कि मुझे वाल्मीकि रामायण, कम्ब रामायण, अध्यात्म रामायण, कृतवास रामायण, आनंद रामायण और श्री रामचरितमानस पढ़ने का अवसर मिला। मेरा मानना है कि जीवन की हर समस्या का समाधान अलग-अलग देश-काल और पात्रों के साथ रामकथा में छिपा हुआ है, इसलिए जब कभी मैं तात्कालिक परिस्थितियों से जूझने में खुद को सक्षम नहीं पाता, रामकथा के पन्ने खोल लेता हूं, समाधान और शक्ति, दोनों मिल जाते हैं।

एक लेखक के रूप में श्री रामचरितमानस मेरी आत्मा के सबसे करीब है। इसका कारण है इसकी भाषायी सहजता और सरलता। श्री रामचरितमानस की एक-एक चौपाई में भारतीय चेतना का दर्शन छिपा हुआ है, गोस्वामी जी ने रामायण की आरती में कहा भी है- गावत वेद पुरान अष्टदस, छओं शास्त्र सब ग्रन्थन को रस, यानी इस कथा में चारों वेदों, अठारहों पुराणों और छहों शास्त्रों व अन्य सभी ग्रंथों-कथाओं का रस सम्मिलित है। इन्हीं में से एक चौपाई, जो मुझे प्रिय है, वह है- करम प्रधान बिस्व करिराखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा ॥ इसका कारण सिर्फ इतना है कि यह चौपाई हमें

भाग्य भरोसे बैठने के बजाय कर्म की कमान से अपने लक्ष्य को भेदने की प्रेरणा देती है।

मैं अक्सर प्रभु राम पर कुछ न कुछ लिखता रहता हूं या यूं कहें कि श्रीराम मेरे द्वारा लिखवाते रहते हैं, लेकिन दो गीत मेरे घर राम आए हैं और राम आएंगे मुझे सबसे ज्यादा प्रिय हैं। राम आएंगे गीत की कुछ पंक्तियों को लिखते समय तो मेरी आंखें छलक गई थीं। ऐसी ही एक पंक्ति है- सरजू जल-थल, जल-थल रोयी, जिस दिन राघव हुए पराये; बिरहा के सौ पर्वत पिघले, हे रघुराई, तब तुम आये; ये वही क्षण है निरंजन, जिसको दशरथ देख न पाये।

आज के नौजवान राम से काफी कुछ सीख सकते हैं। 21वीं सदी की इस 'इंस्टा लाइफ' में हमारा धैर्य इतना कम हो गया है कि दो से तीन सेकंड में हम रील्स स्क्रोल कर देते हैं, 10 सेकंड में टीवी का चैनल बदल देते हैं और पल दो पल की मुलाकात में सामने वाले को जज कर लेते हैं। घंटों ध्यान और एकाग्रता तो अब काल्पनिक बातें हैं। मैं यह नहीं कहता आप इंस्टा छोड़ दीजिए या रील देखना बंद कर दीजिए, लेकिन इतना जरूर ध्यान रखिएगा कि तकनीक आपके दिमाग, आपकी रचनात्मकता और आपकी एकाग्र शक्ति पर हावी न होने पाए, क्योंकि सफलता का मूल मंत्र एकाग्रता है, जो हमें श्रीराम सिखाते हैं। एक-दो दिन के लिए नहीं, पूरे चौदह साल के लिए उनको वनवास हुआ था, लेकिन उन्होंने अपना धैर्य नहीं खोया। वह जहां गए, वह स्थान अयोध्या हो गया और वह जिससे मिले, वह उनका मित्र बन गया। विश्लेषण करके देखिएगा, दुनिया के सबसे बड़े राक्षस से लड़ने और जीतने में

बाहुबल से ज्यादा राम की मदद उनकी एकाग्रता ने की है; उन्होंने एक समय में एक लक्ष्य पर ध्यान केंद्रित किया और सफल होकर लौटे।

कुछ लोग यह भी पूछते हैं कि रावण तो विद्वान था, योद्धा था, फिर भी हार गया, क्यों? मेरा मानना है, वह अनीति, असत्य और अत्याचार के साथ था। आपकी विद्या, आपका ज्ञान, आपका बाहुबल तब तक ही आपके सहयोगी हैं, जब तक आप सत्य, नीति और मानवता के साथ हैं, जिस दिन आप प्रकृति के खिलाफ जाएंगे, आपकी शक्तियां ही शत्रु बन जाएंगी।

आज दुनिया भर में युद्ध हो रहे हैं, चारों ओर अशांति छाई हुई है, दुनिया का एक बड़ा हिस्सा भुखमरी, गरीबी, भ्रष्टाचार और आतंकवाद से जूझ रहा है, ऐसे समय में श्रीराम का चरित्र और उनका 'राम-राज्य' त्रेता से भी ज्यादा प्रासंगिक हो जाता है। राम राज्य के विराट दर्शन को अगर आज के परिप्रेक्ष्य में देखें, तो पाएंगे कि राम-राज्य लोकतंत्र की सबसे परिष्कृत, सबसे शुद्ध अवस्था है, जहां कानून का शासन है, सामाजिक संवाद का स्तर इतना ऊंचा है कि कभी लड़ाई-झगड़े की नौबत ही नहीं आती, स्वास्थ्य-व्यवस्था तो अपनी सर्वोच्च क्षमता के साथ काम करती है, लोग इतने संयमित हैं कि न कोई असमय बीमार पड़ता है और न किसी की असमय मृत्यु होती है। शिक्षा की व्यापक व्यवस्था है, जिससे लोग शत-प्रतिशत साक्षर हैं। रोजगार के साधनों की कमी नहीं है, इसीलिए कोई

निर्धन नहीं है, कोई दुखी नहीं है और किसी के अंदर कोई दुर्गुण नहीं है।

हम 21वीं सदी में मंगल के जितना करीब पहुंचते जा रहे हैं, हमारे जीवन से मंगल उतना ही दूर जा रहा है, इसलिए दुनिया में शांति, समाजों के विकास के लिए श्रीराम आज सबसे प्रासंगिक नायक हैं और रामायण सबसे प्रासंगिक फॉर्मूला !

**मनोज मुंतशिर, गीतकार और पटकथा-लेखक**

**फिजूल की पिटाई से सच्ची पढ़ाई तकः** शिक्षा की शरण में जाना मनुष्य होने की सबसे बड़ी शर्त है। वैसे तो शिक्षा सिलसिला है, पर जिंदगी में सोचने-समझने की शुरुआत के समय ही शिक्षा यदि शुरू हो जाए, तो सोने पर सुहागा है। अपने गुजारे के लिए हर सुबह अखबार बांटने वाला वह किशोर भी सोने पर सुहागे की तलाश में ही स्कूल जाता था। अमेरिका में तब स्कूली व्यवस्था जर्जर थी, मुल्क गृह युद्ध में ही खर्च हो रहा था। मास्टर भी खासे रोष खाए रहते थे। कुछ मास्टर हरदम कोड़ा थामे हाथ साफ करने की फिराक में दिखते थे और कुछ ऐसे बच्चे भी थे, जो रोज पिटने के लिए ही शायद स्कूल आते थे। चवन्नी गलती पर सोलह आना पिटाई मामूली बात थी।

हर बार कोड़े से ज्यादा जुबान बरसती थी। सब मानते थे कि चलो शिक्षक हैं, तो कटु बोल सकते हैं। सीधे मूर्ख भी ठहरा सकते हैं, पर जब पिटाई होती, तब हर कोई तमाशे देखता था। ज्यादातर लोग दूसरे की पिटाई देख मंद-मंद मुस्काते थे, पर उस किशोर को पिटाई की व्यर्थता तब भी समझ में आने लगी थी।

वह सीधा-सादा स्कूली किशोर बहुत बचकर रहता था। स्कूल में अच्छे अनुभव कम और बुरे अनुभव ज्यादा मिलते थे। पढ़ना अच्छा लगता था, नंबर भी अच्छे आते थे, पर स्कूल बिल्कुल नापसंद था। एक दिन तो हद हो गई, एक गरीब लड़के की जमकर पिटाई हो रही थी। शिक्षक बेचारे लड़के को ऐसे पीट रहे थे, मानो गृहयुद्ध लड़ रहे हों। सामंत स्वभाव के शिक्षक अपने अहंकार पर पड़ी किसी मामूली चोट का बदला ले रहे थे, पढ़ाई से दूर-दूर तक कोई लेना-देना नहीं था। वह लड़का भय और अपमान से थर्रा रहा था, उसकी सहमी आंखों से आंसू बहे जा रहे थे। कोई सुनवाई नहीं। लड़का बचाव में जब भी मुंह खोलता, तो मार शरीर पर और गहरे पड़ती। उस गरीब लड़के की पिटाई पर तब भी लोग मुस्करा रहे थे, पर यह संवेदनशील किशोर अंदर से रो रहा था। वह कमजोर था, वह चुप रह गया, क्योंकि अगर वह मुंह खोलता, तो वह भी बचने न पाता।

स्कूल की यह त्रासद घटना मानो दिल में बस गई। पिटने वाला बच्चा तो कभी सामान्य नहीं हो पाएगा। शिक्षक, शिक्षा और स्कूल के प्रति जो सहज लगाव होना चाहिए, वह तो कभी नहीं हो पाएगा। दिल में गांठें रह गई, कभी फिजूल डांट से, तो कभी बेरहम मार से। कौन रोके डांट और कौन रोके पिटाई? चिंतन की धारा बह निकली। शिक्षक शायद इसलिए पीटते थे कि एक ही बार में सुधार देंगे, पर शायद उन्हें पता नहीं था कि उन्होंने हमेशा के लिए कितना कुछ बिगाड़ दिया। पिटाई से सुधरने की गारंटी नहीं, पर बिगड़ जाना तय है और ऐसे बिगड़े माहौल में न जाने कितने स्कूल चल रहे हैं। बच्चों को

स्कूलों में घसीट-घसीटकर, डरा-धमकाकर लाया जा रहा है। नहीं, शिक्षा का यह स्वरूप गलत है, एक नया स्वरूप गढ़ना होगा।

उस किशोर अर्थात जॉन डेवी ने स्नातक होने के बाद स्कूल में शिक्षक बनना मंजूर किया। बच्चों को बहुत प्रेम से पढ़ाना शुरू किया, पर दो वर्ष में ही एहसास हो गया कि शिक्षा में सुधार के लिए कुछ बड़ा करना होगा। स्कूल में पढ़ाते रहने से कुछ नहीं होगा। दार्शनिक बनना होगा, तभी बड़े पैमाने पर लोग बात सुनेंगे और सुधार होगा। स्कूल की पक्की नौकरी छोड़कर जॉन डेवी उच्च शिक्षा और शोध की दिशा में चल पड़े। शिक्षा सुधार के तमाम सुझावों, प्रयासों के साथ उन्होंने देश को प्रभावित किया।

उन्होंने बताया कि 'शिक्षा जीवन की तैयारी नहीं है, शिक्षा ही जीवन है। हम अनुभव से नहीं सीखते, हम अनुभव पर चिंतन से सीखते हैं। शिक्षा स्वयं कोई बनी-बनाई चीज नहीं है, बल्कि क्रिया के चयन के माध्यम से निरंतर बनते रहने वाली चीज है।' शिक्षा की दुनिया में उनके नाम का डंका बजने लगा। वह उसी कोलंबिया विश्वविद्यालय में पढ़ाते थे, जहां पढ़ने के लिए भारत से भीमराव आंबेडकर गए थे। पूरे दो साल जॉन डेवी ने आंबेडकर को अपने सान्निध्य में रखा और सिखाया कि शिक्षा ही लोकतंत्र की नींव है। स्नेहिल स्वभाव के प्रोफेसर जॉन डेवी की शिक्षा आंबेडकर के बहुत काम आई। आंबेडकर ने बार-बार स्वीकार किया कि उन्हें बनाने में जॉन डेवी का बहुत योगदान है। जब भी आंबेडकर याद किए जाते हैं, जॉन डेवी भी याद आते हैं।

जॉन डेवी (1859-1952) कोड़े मारने वाले उस शिक्षक को भूल न पाए थे। उन्होंने शिक्षा सुधार के लिए बहुत काम किए, पर अभी भी उनका सपना साकार नहीं हुआ है, क्योंकि दुनिया के सारे बच्चे सारे लोग अभी भी पूरा शिक्षित-जागरूक नहीं हुए हैं। शिक्षा अभी भी पूरी स्नेहिल नहीं हुई है। एक दिन आएगा, जब दुनिया के सभी स्कूलों में शिक्षक कक्षा में आते हो सीधे पढ़ाने नहीं लगेंगे, बच्चों को कुछ करने के लिए देंगे और बच्चे कुछ-कुछ करते हुए ही सच्ची शिक्षा पाएंगे।

**जब सिर्फ पच्चीस पैसे के लिए हुई पिटाईः** पालन-पोषण का सही शास्त्रीय सिद्धांत तो यही है कि बच्चों की जरूरतें जरूर पूरी कर दी जाएं, मगर उनके हाथ में पैसे न दिए जाएं। बच्चे इतने संतुष्ट हों कि उन्हें पैसों को हाथ लगाने की जरूरत ही नहीं पड़े, पर ऐसा होता नहीं है। अब लोग बच्चों की हथेली पर पैसे रखकर निश्चिंत हो जाते हैं कि बच्चा जरूरत के समय खर्च कर लेगा, इसे जेबखर्च कहा जाता है। अनेक बच्चों को हजारों रुपये जेबखर्च में मिलते हैं। नतीजा यह कि अब ज्यादातर बच्चे खुले हाथ से खर्च की आदत में मस्त रहते हैं।

पहले ऐसा नहीं था। बाजार में जरूरी चीजें ही बिकती थीं। बाजार न सजीले हुए थे और न घूमने टहलने की जगह बने थे। गैर-जरूरी चीजों का चलन भी नहीं था। बच्चों की जेब में तब कभी-कभी ही तीन-चार आने नसीब होते थे। केरल राज्य के उस बच्चे की जेब में भी एक दिन चार आने खनक रहे थे। चार आने मतलब पूरे पच्चीस पैसे। दिल खुशी से बाग-बाग हो रहा था। पैसे खर्च हो जाने के लिए मानो मचल रहे थे और वह पहुंच गया हलवाई की दुकान पर। तब दुकान पर कम ही मिष्ठान हुआ करते थे, पर उनमें और उनके स्वाद में ज्यादा

ईमानदारी हुआ करती थी। पूरे चार आने की मिठाइयां ली, जैसे उन्नीयप्पम, नेय्यप्पम, पायसम। पेट भरा, तो मन गदगद हो उठा।

खैर, अपनी जेब से हुई मनमानी का आनंद कुछ देर ही टिक सका। मां ने उसी शाम पूछ लिया, 'तुम्हारे पास चार आने हैं, वापस करो ?' अब तो हुई समस्या। चार आने तो खर्च हो गए, पर बताया कैसे जाए? वह बालक भय से सहमा सिमटा चला जा रहा था। मन ही मन यही सोच रहा था कि मां को अचानक कोई काम याद आ जाए या घर में बड़े-बड़े पांच भाई-बहन थे, कोई तो मां को पुकारकर छोटे भाई को बचा ले। मां का ध्यान भटक जाए, पर मां तो टकटकी लगाए पूछे चली जा रही थीं, 'चार आने क्या हुए? कहां रखे? वापस करो।' बालक चुप रहा, तो मां का रोष बढ़ा, 'बता, चार आने का क्या किया?'

बालक ने धीर से जवाब दिया, 'मां, माफ कीजिए, दुकान पर खर्च हो गए। मन हुआ, तो मैंने कुछ खा लिया।' अब तो मां का गुस्सा सातवें आसमान पर पहुंचकर पिटाई के रूप में बरसने लगा। यह बोले चली जा रही थीं, 'चार आने तूने यूं ही खर्च कर डाले ? क्या घर में तेरा पेट नहीं भरता, तुझे ठीक से खाना नहीं मिलता ? कोई तुझे बाहर खाते देखता, तो क्या कहता ? पहले यह बता कि बिना पूछे पैसे कैसे खर्च कर दिए? तू कब से पैसों का मालिक हो गया? तेरे पैसे थे क्या?'

पिता जिला अदालत में वकील थे, ठीक-ठाक कमाते थे। घर में विलासिता के साधन नहीं थे, पर किसी तरह का अभाव नहीं था। पिटते हुए बालक की आंखों से आंसू बहे जा रहे थे, कभी रोने की आवाज भी गले से कूक उठती थी। बाहर खाना बहुत महंगा पड़ गया। बालक के पास किसी सवाल का जवाब नहीं था, अनुशासन भंग तो हुआ ही था। खर्च करने से पहले मां से प्यार से पूछ लेना चाहिए था, मां जरूर मान जातीं।

उस बालक को वह पिटाई हमेशा के लिए याद रह गई और यह सबक भी कि जीवन में कभी अनुशासन नहीं तोड़ना है। ऐसा नहीं है कि हमें पैसा खर्च नहीं करना चाहिए, बल्कि यह है कि हमें आंखें मूंदकर खर्च नहीं करना चाहिए।

वह बालक अपने जीवन से सीखकर किताबों में डूब गया और भारतीय प्रशासनिक सेवा में एक सुंदर पुष्प की तरह खिलकर समाज के सामने आया। सिद्धांत वही पुराना था, एक भी पैसा गलत ढंग से खर्च नहीं करना है। साफ-सुथरा इंसान बने रहना है, ताकि अपने खाते में एक भी रुपया बेईमानी का न पहुंचने पाए। कम आयु में ही जब वह डिप्टी कलक्टर थे, तभी लोग उन्हें शेषन सर के नाम से जानने लगे थे। उनके बारे में उनके वरिष्ठ अधिकारी लिखते थे कि यह अफसर जरूरत से कहीं ज्यादा ईमानदार है। वह एक ऐसे विरल अधिकारी थे, जो सामने से आ रही फुफकारती हर चुनौती को सीधे सिंग से पकड़ते थे।

एक समय वह मद्रास में परिवहन निदेशक थे, एक ड्राइवर ने तंज किया कि आप बस के इंजन को नहीं जानते, बस

चलाना नहीं जानते, आप ड्राइवरों का दर्द क्या समझेंगे? फिर क्या था, चंद दिन लगे, शेषन इतने कुशल हो गए कि बस को पूरा खोलकर, फिर जोड़कर, घंटों चलाने में पारंगत हो गए। अपनी मेहनत-ईमानदारी से वह बेहतरीन मिसाल बनते चले गए।

आज कहीं भी चुनाव की चर्चा होती है, विरुनेल्लई नारायन अय्यर शेषन (1932-2019) की याद अनायास उमड़ पड़ती है। हमारे इतिहास में स्वर्णिम अक्षरों में हमेशा यह दर्ज रहेगा कि हमें मिले एक मुख्य चुनाव आयुक्त टी एन शेषन, जिन्होंने चुनाव सुधार की गंगा बहा दी और जम्हूरियत में चार चांद लगा दिए।

**गुरु जिन्होंने एकांत में स्वयं को खोजाः** अति मेधावी क्रांतिकारी पर हत्या और राष्ट्रद्रोह का मुकदमा चल रहा था। सामने जज की कुरसी पर वह अंग्रेज बैठता था, जो प्रशासनिक सेवा परीक्षा में 26 वें स्थान पर रहा था और कठघरे में खड़ा मेधावी आरोपी 18वें स्थान पर। अंग्रेज हर मुमकिन साजिश में थे कि किसी तरह से मेधावी का जीवन नष्ट कर दिया जाए, पर शायद अंग्रेज जज यह भूल नहीं पा रहे थे कि योग्यता में उनसे भी बहुत बेहतर इंसान और चौदह वर्ष इंग्लैंड में पढ़ाई करने वाले की जिंदगी का फैसला करना है। अलीपुर विस्फोट मामले में 40 क्रांतिकारी पकड़े गए थे, पर अंग्रेजों ने उस मेधावी को ही मुख्य आरोपी बनाया था। अंग्रेज मानकर चल रहे थे कि क्रांतिकारियों में यही आदमी सबसे तेज व पढ़ा-लिखा है, तो इसीलिए यही सरगना होगा और इसे सजा देना सबसे जरूरी है।

मेधावी आरोपी कठघरे में चुपचाप खड़े रहते। सामने जज देख इंग्लैंड के दिन भी याद आते थे। याद आ जाता कि कम आयु में ही शल्य चिकित्सक पिता ने पढ़ने के लिए इंग्लैंड भेज दिया। पश्चिमी संस्कृति में रचे-बसे पिता की बड़ी तमन्ना थी कि मेधावी बेटा ब्रिटिश प्रशासनिक सेवा में उच्चाधिकारी बने। पुत्र ने भी, पढ़ाई-लिखाई में निराश नहीं किया। दर्शनशास्त्र जैसा कठिन विषय चुना और अंग्रेजी के साथ ही, फ्रेंच, जर्मन, स्पेनिश, इटालियन में भी माहिर हुए। संयोग देखिए, महज घुड़सवारी में नाकाम होने की वजह से उच्चाधिकारी नहीं बन पाए। योग्यता में कहीं से कोई कमी न थी, पर अंदर देश सेवा की भूख थी, जो वापस स्वदेश खींच लाई। दर्शनशास्त्र पढ़ाने लगे। जल्दी ही मराठी, गुजराती, बांग्ला, संस्कृत में भी पारंगत हो गए।

यह संयोग ही था कि सारी कुशलता कठघरे में आ खड़ी हुई थी, गुलामी की बेड़ियों में जकड़ी हुई, लाचार, अवसादग्रस्त। पता नहीं, जीवन आगे है भी या नहीं। उन दिनों क्रांतिकारियों को फांसी देने में अंग्रेज देर नहीं करते थे। साथी क्रांतिकारी 18 वर्षीय खुदीराम बोस कुछ ही दिन पहले फांसी चढ़ाए गए थे। बहुत प्रतिकूल माहौल था, अदालती कठघरे में खड़ा होना बिल्कुल अच्छा नहीं लगता था, बिना अपराध किए ही सजा की नौबत आ गई थी। आजाद होने की कोशिश, मानवीयता की मांग क्या गलत है? राष्ट्रप्रेम में कौन सा अपराध कर दिया है कि जेल में एक छोटी सी कोठरी मिली है। एक थाली, एक कटोरा, कंबल और कुछ कपड़े। रहने, सोने, सोचने और शौच के लिए बस एक कमरा। शातिर माना गया

है, इसलिए कालकोठरी में अकेले रखा गया है। आंखें चारों ओर देखती हैं, तो एकांत काटने दौड़ता है, दीवारें चारों ओर से घिरने-गिरने लगती हैं। मन बहुत उदास हो जाता है, कोई सहारा नहीं मिलता। पिता का क्या सपना था और कहां आ गए? क्या ऐसी ही जिंदगी के लिए बने थे? जिधर देखो, भय और दुख का एहसास होता है। सोचते-सोचते एक रात यह प्रश्न पैदा हुआ कि आखिर देखा कहां जाए? किसे देखा जाए कि दुख न हो, भय न लगे? कहा गया है कि वास्तव में मनुष्य स्वयं अपना सर्वश्रेष्ठ गुरु होता है। गुरु वही होता है, जो स्वयं को जान लेता है। कालकोठरी दिन में भी रोशनी के लिए तरसती थी। रात होते ही अंधेरा और गाढ़ा हो जाता था। ऐसी जगह ऐसी रात में बाहर क्या देखना, उन्होंने अपने मन की एकाग्र किया। शांत बैठ गए। मन को भटकने से रोकने लगे और यहीं से खुद को जानने की शुरुआत हुई। पढ़ाई-लिखाई की पश्चिमी नास्तिक बगिया में ठेठ भारतीय आस्तिकता के पुष्प खिलने लगे। उन्होंने स्वयं को सत्य की रोशनी में देखा और रोज देखने लगे, अभ्यास हो गया।

वह दिन आया, जब जज ने घोषणा कर दी, अरविंद घोष निर्दोष हैं। लगभग साल भर बाद जब वह कैद से छूटे, तब कृष्ण प्रेम में डूबे बिल्कुल अलग इंसान थे। उन्होंने बाहर आकर बताया कि किसी संघर्ष के लिए बाह्य साधन उतने उपयोगी तथा आवश्यक नहीं है, जितना कि आंतरिक बल। भारतीयों ने जब अपने आंतरिक बल को खोया, तभी परतंत्र हुए। अरविंद घोष (1872-1950) ने अपना रास्ता बदल दिया। ब्रिटिश सत्ता से दूर फ्रेंच सत्ता वाले पुड्डूचेरी पहुंचकर घोषणा कर दी

कि जहां राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए, असंख्य नेता संघर्षरत हैं, वहां में वैचारिक मुक्ति के लिए अकेले ही परोक्ष युद्ध करूंगा।

राष्ट्र को एक ऐसे राष्ट्रवादी गुरु प्राप्त हुए, जो हर नागरिक को महामानव या सुपरमैन बनाना चाहते थे। एक ऐसे गुरु, जो इस देश पर थोपे नहीं गए, बल्कि देश की जरूरतों के अनुरूप अवतरित हुए। उन्होंने बार-बार आह्वान किया कि स्वयं को देश के योग्य बनाओ, जो भी करो, देश के लिए ही करो। हमारा वास्तविक शत्रु बाहर की कोई शक्ति नहीं है। यह तो हमारी ही निरी मूर्खता, कायरता, स्वार्थ, पाखंड और अंधी भावुकता है।

# मिसाल

**आंख की बाधा भी न रोक सकी रास्ताः** सफलता की राह अकसर बाधाओं से शुरू होती है और जो लोग चुनौतियों से बिना डरे अपने रास्ते पर चलते रहते हैं, वहीं कुछ अलग कर भी जाते हैं। कुछ ऐसी ही कहानी है भावेश भाटिया की, जिन्होंने 23 की उम्र में अपनी आंखों की रोशनी खो दी थी। लेकिन कुछ करने का यह जज्बा ही था कि उन्होंने आज 350 करोड़ की कंपनी खड़ी कर ली है। जब ठेले पर मोमबत्ती बेचने का काम शुरू किया था, तो खुद उन्होंने भी नहीं सोचा होगा कि एक दिन वे एक सफल व्यवसायी बन जाएंगे।

असल में भावेश को रेटिना मस्कुलर डिग्रेडेशन नामक बीमारी थी, जिसके कारण उनकी दृष्टि चली गई। एमए की डिग्री होने के बावजूद भावेश आंख की वजह से रोजगार पाने में असमर्थ थे। फिर भावेश ने मोमबत्ती बनाना सीखने के लिए नेशनल एसोसिएशन फॉर द ब्लाइंड स्कूल में दाखिला लिया, क्योंकि वे कुछ सीख कर अपना कोई काम करना चाहते थे। जब उन्होंने इसमें महारत हासिल कर ली, तो ठेले पर मोमबत्तियां बेचने लगे।

उनको आगे बढ़ने में उनकी पत्नी नीता का साथ मिला, पत्नी ने भी खूब मदद की। मोमबत्तियां भावेश द्वारा बनाई जाती थीं और नीता उनकी मार्केटिंग करती थीं। जैसे- जैसे उनका व्यवसाय बढ़ा, उनका हौसला भी बढ़ता गया। फिर 1994 में सनराइज कैंडल नाम से

एक कंपनी भी बना ली, जिसका राजस्व 350 करोड़ रुपये सालाना हो चुका है। सादा, सुगंधित, जेल, फ्लोटिंग व डिजाइनर मोमबत्तियां, आज इनकी पहचान बन चुकी हैं। सबसे खास बात यह है कि इन्होंने अपनी कंपनी में दृष्टिबाधित लोगों को रोजगार भी दिया है।

**जोशीले बोल...**

- मन में महत्वाकांक्षा हो, तो कोई बाधा आपको आगे बढ़ने से रोक नहीं पाती।
- कभी भी अपने सपनों को छोड़े नहीं और न ही अपनी क्षमताओं पर संदेह करें।
- भावेश उन हजारों युवाओं के लिए प्रेरणा स्रोत हैं, जो शारीरिक बाधा की वजह से अपना हौसला खो देते हैं।
- जो अपनी उम्मीद को कभी मरने नहीं देते, वहीं दूसरों के लिए आगे चलकर प्रेरणा स्रोत बन जाते हैं।

**तुम केवल कर्म करो, परिणाम की चिंता मत करो:** अर्जुन ने कृष्णा से पूछा, 'जो भक्त आपके प्रेम में डूबे रहकर आपके सगुण रूप की पूजा करते हैं या फिर जो शाश्वत, अविनाशी और निराकार की पूजा करते हैं, इन दोनों में से कौन अधिक श्रेष्ठ है।' भगवान श्रीकृष्ण बोले, 'जो लोग मुझमें अपने मन को एकाग्र करके निरंतर मेरी पूजा और भक्ति करते हैं तथा खुद को मुझे समर्पित कर देते हैं, वे मेरे परम भक्त होते हैं। लेकिन जो लोग मन-बुद्धि से परे सर्वव्यापी, निराकार की

आराधना करते हैं, वे भी मुझे प्राप्त कर लेते हैं। मगर जो लोग मेरे निराकार स्वरूप में आसक्त होते हैं, उन्हें बहुत मुश्किलों का सामना करना पड़ता है, क्योंकि सशरीर जीव के लिए उस रास्ते पर चलना बहुत कठिन है। मगर हे अर्जुन, जो लोग पूरे विश्वास के साथ अपने मन को मुझमें लगाते हैं और मेरी भक्ति में लीन होते हैं, उन्हें मैं जन्म और मृत्यु के चक्र से मुक्त कर देता हूं।'

जो अव्यक्त और निराकार होता है, उसका आप अनुभव नहीं कर सकते। उसमें आप सिर्फ विश्वास कर सकते हैं। चाहे आप निराकार में विश्वास करते हों, फिर भी जो नहीं है, उसके प्रति गहरी भक्ति और प्रेम को विकसित करते हुए उसे बनाए रखना आपके लिए बहुत मुश्किल होगा। जो है, उसकी भक्ति करना आपके लिए ज्यादा आसान है। इसके साथ ही, वह कहते हैं, 'अगर कोई निरंतर निराकार की भक्ति कर सकता है, तो वह भी मुझे पा सकता है।' जब वह 'मैं' कहते हैं, तो वह किसी व्यक्ति के रूप में अपनी बात नहीं करते हैं, वह उस आयाम की बात करते हैं, जिसमें साकार और निराकार दोनों शामिल होते हैं। 'यदि कोई वह रास्ता अपनाता है, तो वह भी मुझे प्राप्त कर सकता है, मगर उसे बहुत मुश्किलें झेलनी पड़ेंगी।' क्योंकि जो चीज नहीं है, उसमें मन लगाना आपके लिए मुश्किल है। अपनी भक्ति में लगातार स्थिर होने के लिए आपको एक आकार, एक रूप, एक नाम की जरूरत पड़ती है, जिससे आप जुड़ सकें।

'सशरीर जीव के लिए उस रास्ते पर चलना कठिन है।' इसका मतलब है कि अगर आप शरीर और बुद्धि-विवेक युक्त जीव की तरह, अस्तित्व के एक निराकार आयाम की आराधना करते हैं, तो आपकी बुद्धि रोज आपसे पूछेगी कि आप किसी मंजिल की तरफ बढ़ भी रहे हैं या यों ही समय बर्बाद कर रहे हैं। 'मगर हे अर्जुन, जो लोग पूरे विश्वास के साथ अपने मन को मुझमें लगाते हैं और मेरी भक्ति में लीन होते हैं, उन्हें मैं जन्म और मृत्यु के चक्र से मुक्ति दे देता हूं।

वह अर्जुन से कहते हैं, 'युद्ध के परिणाम की चिंता मत करो। तुम यहां हो। तुम्हें लड़ना है। तुम जीतोगे या नहीं, यह तुम्हारी काबिलियत और बाकी चीजों पर निर्भर करता है। बस लड़ो और अच्छी तरह लड़ो। अगर तुम जीतते हो, तो राज्य का आनंद उठाओ। अगर तुम मर जाते हो, तो मैं तुम्हारा परम कल्याण सुनिश्चित करूंगा।' यहां पर भी वह यह स्पष्ट कर रहे हैं कि जब बात बाहरी हालात की होती है, तो वह हर चीज सुनिश्चित नहीं कर सकते। आंतरिक हालात में सुनिश्चित कर सकते हैं। वह कहते हैं, 'मैं यह पक्का करूंगा कि आपको आगे जन्म न लेना पड़े।' मेरे साथ भी यह सच है। मैं पक्का कर सकता हूं कि आपको दोबारा जन्म न लेना पड़े, मगर मैं यह पक्का नहीं कर सकता कि आपको कल नाश्ता मिल जाए। किसी तार्किक दिमाग को यह बात बेतुकी लग सकती है, 'अगर आप इतनी बड़ी चीज सुनिश्चित कर सकते हैं, तो आप नाश्ता सुनिश्चित क्यों नहीं कर सकते ?' जीवन की हकीकत यही है। मैं आपके लिए कल का नाश्ता पक्का नहीं कर सकता, मगर मैं आपका

परम कल्याण सुनिश्चित कर सकता हूं। जब आंतरिक आयामों की बात आती है, तो मैं उसका पूरा जिम्मा ले सकता हूं। जब बाहरी हालातों की बात आती है, तो कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता। हर किसी को संघर्ष करना पड़ता है। **सदगुरु**

**एक नई मानव चेतना से युक्त मुक्तात्मा:** यीशु सभी आकांक्षाओं की पराकाष्ठा हैं। वह आपकी ही तरह पीड़ा में है, जैसे हर इनसान का जन्म होता है- क्रूस पर पीड़ा में। जब आप उसके और करीब आते हैं, तब आप देखेंगे कि उसका अंतरतम अस्तित्व न तो क्रूस है और न ही उसका उत्सव है। यह मसीह की सुंदरता है। वहां एक पुल मौजूद है। आप धीरे-धीरे उसकी ओर बढ़ सकते हैं और वह आपको अज्ञात की ओर ले जा सकता है और इतना धीरे-धीरे कि आपको पता भी नहीं चलेगा कि कब आप सीमा पार कर जाते हैं। कब आप ज्ञात से अज्ञात में प्रवेश करते हैं। कब दुनिया गायब हो जाती है और भगवान प्रकट हो जाते हैं। आप उस पर भरोसा कर सकते हैं, क्योंकि वह आपके जैसा है और फिर भी आपसे बहुत अलग है। आप उस पर विश्वास कर सकते हैं क्योकि वह आपकी पीड़ा का हिस्सा है; आप उसकी भाषा समझ सकते हैं।

ईसा मसीह धर्म का मूल सिद्धांत हैं। मसीह में मानवता की सभी आकांक्षाएं पूरी होती हैं। वह एक दुर्लभ संश्लेषण है। सामान्यतः मनुष्य पीड़ा, संताप, चिंता और दुख में जीता है। यदि आप कृष्ण को देखें, तो वह दूसरी ध्रुवता में चले गए हैं। वह परमानंद में रहते हैं। कोई वेदना नहीं बची, पीड़ा गायब हो गई है। तुम उनसे प्रेम कर सकते हो, तुम उनके साथ कुछ देर नृत्य कर सकते हो, लेकिन पुल गायब रहेगा। तुम पीड़ा में हो;

वे परमानंद में हैं- पुल कहां है? बुद्ध तो और भी दूर चले गए हैं। वे न तो पीड़ा में हैं, नही परमानंद में हैं। ये बिलकुल शांत हैं। वे इतना दूर हैं कि आप उसे देख सकते हैं, लेकिन आप विश्वास नहीं कर सकते कि वे हैं। यह एक मिथक जैसा लगता है- शायद मानवता की इच्छा पूर्ति। ऐसा व्यक्ति इस धरती पर कैसे चल सकता है, जो सभी पीड़ाओं और परमानंद से इतना परे है? यह बहुत दूर है।

इसीलिए यीशु चेतना के इतिहास में एक महान मील का पत्थर बन गए। यह महज संयोग नहीं है कि यीशु का जन्म इतिहास की सबसे महत्त्वपूर्ण तारीख बन गया है। ऐसा होना ही चाहिए। ईसा से पहले, एक दुनिया, ईसा मसीह के बाद, एक पूरी तरह से अलग दुनिया अस्तित्व में है। बहुत सारे कैलेंडर हैं, बहुत सारे तरीके हैं, लेकिन ईसा मसीह पर आधारित कैलेंडर सबसे महत्त्वपूर्ण है। उनके साथ मनुष्य में कुछ बदलाव आया है। उनके साथ मनुष्य की चेतना में कुछ प्रवेश कर गया है। बुद्ध सुंदर हैं, शानदार हैं, लेकिन इस दुनिया के नहीं है। कृष्ण प्यारे हैं- लेकिन फिर भी पुल गायब है। मसीह पुल है, ईसा मसीह पर बात करना चुना है।

कोई भी विद्रोह तभी सच्चा और जीवंत होता है, जब उसमें अराजकता हो। यीशु के साथ, एक अराजकता मानव चेतना में प्रवेश कर गई। अब संगठन बाहर नहीं, समाज में करना है। आदेश को आपके अस्तित्व के अंतरतम केंद्र में लाना होगा। ईसा मसीह अराजकता लेकर आए हैं। अब, उस अराजकता से बाहर, आपको पूरी तरह से नया जन्म लेना होगा। अंतरतम से आने वाला एक आदेश- एक नया चर्च नहीं

बल्कि एक नया मनुष्य, एक नया समाज नहीं बल्कि एक नई मानव चेतना। यही मसीह का संदेश है। **ओशो**

**हारते-हारते जीत जानाः** हमारे आसपास ऐसे बहुत बहुत से लोग हैं, जिनकी जिंदगी से हम अपने जीवन के लिए प्रेरणा ले सकते हैं। अपनी शारीरिक विकलांगता को अभिशाप मानकर अगर हैदराबाद की बाला लता मल्लावरपु जिंदगी से हार मान जातीं, तो जिंदगी में कुछ बड़ा नहीं कर पातीं। 2004 और 2016 में दो बार सिविल सेवा परीक्षाओं में सफलता हासिल करने वाली बालालता ने महज 11 महीने की उम्र में अपने पैर खो दिए थे। इसके बावजूद भी उन्होंने अपने सपने का पीछा किया और आखिर में कामयाब भी रहीं।

हर कदम पर मिला परिवार का साथ, व्हील चेयर पर होने की वजह से बालालता स्कूल जाने में असमर्थ थीं। फिर उनके पिता ने उन्हें घर पर ही पढ़ाया। 10वीं व 12वीं की परीक्षा प्राइवेट से देने के बाद उन्होंने दूरस्थ माध्यम से आगे की पढ़ाई जारी रखी। हालांकि ग्रेजुएशन के बाद एक समय ऐसा भी आया, जब वो काफी अवसाद में थीं। फिर एक ऐसा मोड़ आया जिसने साबित कर दिया कि कड़ी मेहनत और जुनून से कोई भी बड़ी ऊंचाई हासिल कर सकता है। उन्होंने दो बार यूपीएससी सिविल सेवा परीक्षा उत्तीर्ण करके खुद की क्षमताओं को साबित भी किया। फिर एक नौकरशाह के रूप में 12 वर्षों तक देश की सेवा करने के बाद वे 2005 से यूपीएससी की तैयार कर रहे लोगों को प्रशिक्षण दे रही हैं कि कठिन परीक्षा की तैयारी के दौरान कैसे सहज रहें। आज वो एक प्रेरक वक्ता और यूपीएससी उम्मीदवारों के लिए एक प्रशिक्षक की भूमिका में हैं।

**योगी किसी भी स्थिति में विचलित नहीं होतेः** विचलित होना मनुष्य का सहज स्वभाव है। वह सिर्फ दुख में ही नहीं, बल्कि सुख में भी विचलित होता है। सुख आने पर भी मनुष्य भयाक्रांत रहता है कि न जाने यह सुख कब उससे छिन जाए। लेकिन कुछ मनुष्य इन दोनों ही परिस्थितियों में समभाव में रहते हैं और विचलित नहीं होते, इसलिए उन्हें योगी कहा जाता है।

व्यक्ति को सिर्फ दुख ही विचलित करता है, ऐसा नहीं है। सुख में भी व्यक्ति विचलित हो जाता है। किसी ने सुना कि 'अरे सुख आएगा तो दुख तो आएगा ही। आप हंसेंगे तो आपको रोना ही पड़ेगा। अरे मैं सुखी हूं, मुझे सुखी नहीं रहना चाहिए, नहीं तो दुख का अनुभव करना पड़ेगा।' इस तरह से यह भाव मन में भय पैदा कर देता है। मगर आत्मस्थित व्यक्ति ऐसा नहीं करेगा। सुख-दुख आएंगे और जाएंगे। हम इसके साक्षी हैं। इनको समान रूप से देखने वाले, इनके प्रति उदासीन रहने वाले ही ज्ञानी हैं।

उदासीन का मतलब बिलकुल निरुत्साही, लटका हुआ चेहरा हो, ऐसा नहीं है। उदासीन माने दुखी रहना नहीं है। डिप्रेस्ड रहने को उदासीनता नहीं बोलते हैं। उदासीन माने परवाह नहीं करना। जैसे आप बस में चढ़ते हैं, ट्रेन में चढ़ते हैं, कई लोग आते हैं, जाते हैं, आप क्या करते हैं? आप बस देखते रहते हैं। आपको उनसे कुछ लेना- देना नहीं। चढ़ने वालों को आप 'आइए, आइए, आइए' नहीं कहते, आप उनको माला नहीं पहनाते, उनकी आरती नहीं उतारते। न ही आप जाने वालों को विदा करने जाते हैं। जिनको जिस स्टेशन पर उतरना है, ये वहां

उतर जाते हैं और जिन्हें जिस स्टेशन पर चढ़ना होता है, वे वहां से चढ़ते रहते हैं। मौज-मस्ती करते हुए, खाते-पीते हुए आप ट्रेन में सफर करते हैं। आपकी यात्रा के बीच में काफी स्टेशन आते हैं। ट्रेन कई जगह रुकती है, कई जगह बिना रुके ही दौड़ जाती है। इसके विषय में आप तटस्थ रहते हैं। ऐसे ही जीवन में कई घटनाएं आती है, उनसे निर्लिप्त और तटस्थ रहना चाहिए।

इसी प्रकार गुणों से विचलित नहीं होना चाहिए। क्योंकि गुणों का असर बहुत लंबे समय तक नहीं रहता। गुण अपने स्वभाव से आते हैं। यह होता रहता है। अब प्रश्न उठता है, तो क्या फिर हमको सत्व गुण को भी नहीं पकड़ना है? हाँ और नहीं दोनों। पहली सीढ़ी में, सत्व को पकड़े। फिर बाद में सत्व को भी नहीं पकड़े रखना है। जब बिलकुल गंदगी है, तो साबुन लगाएं। लेकिन साबुन को लगाए ही मत रखें। अब आप यह पूछेंगे कि साबुन को धो डालना है तो पहले साबुन लगाएं ही क्यों? सत्व को पकड़ने के बाद जब सत्व को छोड़ेंगे, तो उसमें बहुत अंतर होगा, परिवर्तन होगा, आप अलग ही होंगे। साबुन लगाने के बाद फिर जब साबुन को धो डालते है तो कपड़ा अलग ही ढंग से साफ होगा। एक योगी को पता है यह साबुन लगा रहे हैं पर साबुन को रखने वाले नहीं हैं, यह भी धो डालेंगे। हम इससे भी ऊपर उठेंगे।

जब आपका शरीर ही जलने बाला है तो आपका पहना हुआ कोट, सूट-बूट या गहने आदि का क्या मूल्य है? यह सब मिट्टी के समान ही तो है। सिर्फ मृत्यु की स्मृति ही आपको इस स्थिति में पहुंचा देगी कि यह सब समान है। जीवन में आपके जीते जी निंदा करने वाले आपके मरने के बाद आपको स्तुति

करेंगे। मरने के बाद कोई गाली नहीं देता। मृत्यु के बाद निंदा क्या, स्तुति क्या ? आपका मन इतना कमजोर है कि किसी ने आपको बेवकूफ कह दिया, मूर्ख, धोखेबाज कह दिया, देखिए वह आपके हृदय में तीर जैसे लगता है। आपको विचलित कर देता है। अरे यह दुनिया शब्दों का खेल है। आप इन शब्दों से विचलित हो जाते हैं। लोग कहते हैं, हमारा नाम नहीं खराब होना चाहिए। क्या नाम खराब होना है? आप नेक हैं, आप सब ठीक कर रहे हैं। तब आपको किसी बात का डर नहीं है। इसका मतलब अकुशल रहना नहीं है। कुशलता होनी चाहिए। मगर मन में जो भय से विचलित हो जाते हैं, इससे ऊपर उठें। खड़े हो जाइए। लोगों को बोलिए, 'आप मुझे कितनी गाली दे सकते हैं ? देखता हूं मैं सह सकता हूं कि नहीं।'

हम गर्मी, सर्दी सह सकते हैं मगर निंदा, स्तुति सहना हमारे लिए बहुत कठिन हो जाता है। स्तुति करने वाले कल गाली देंगे। गाली देने वाले भी किसी तरह से हमारा मंगल कर रहे हैं। इसलिए कबीर ने कहा, 'निंदक नियरे एखिए।' वे बिना तेल-साबुन के, हमको साफ कर देंगे। इसमें जरा जाग कर देखना चाहिए कि कोई हमको दुख पहुंचा रहा है तो इसमें हमारा कुछ भला है। वे हमको अंदर से मजबूत कर रहे हैं। हमारी कमजोरी निकल रही है। दुख हमको गहराई देता है। भगवद् गीता में कहा गया है-कोई गाली दे, कोई प्रशंसा करे, सब समान है। योगी किसी भी स्थिति में विचलित नहीं होता।

**जिंदगी में हारा वही, जो लड़ा नहीः** कुछ लोग तमाम असफलताओं के बाद भी जिंदगी से हार नहीं मानते, बस लक्ष्य पर नजर रखते हैं और मेहनत करते हैं। फिर एक दिन कुछ ऐसा

कर जाते हैं कि सारी दुनियाँ देखती रह जाती है, शायद इसलिए उनकी कहानी दूसरों के लिए मिसाल बनती है। ऐसी ही कहानी है मध्य प्रदेश में मुरैना के रहने वाले आईपीएस अधिकारी मनोज शर्मा की।

बड़ा सपना देखना जरूरी, मनोज की आर्थिक निमति इतनी खराब थी कि उनके पास रहने के लिए ढंग का एक धर भी नहीं था। बचपन में पढ़ाई में औसत से कम ही रहे थे। लेकिन उनकी सफलता की नींव उस घटना से पड़ी, जब एक बार आँटो चलाने के दौरान पुलिस ने उनका आँटो पकड़ लिया। वे ऑटो छुड़ाने की दरख्वास्त लेकर एसडीएम के पास गए। हालांकि वे किसी कारण से अपनी बात वहां नहीं कह पाए। उन्हें बहुत निराशा हुई लेकिन तब उन्होंने ठाना कि एक दिन वे 'भी एसडीएम बनेंगे।

जुनून के आगे जीत है, पर कोचिंग के लिए पैसे की व्यवस्था करना आसान नहीं था। उन्होंने आने फीस भरने और जीवनयापन करने के लिए आँटो तो चलाया ही, फुटपाथ पर सोए, लाइब्रेरी में काम किया, लोगों के पालतू कुत्तों को टहलाने का काम भी किया। इस तरह यूपीएससी की परीक्षा के लिए पैसे जुटाए।

सच्चे दोस्त हैं जरूरी, हालांकि इस परीक्षा में मनोज पहले तीन प्रयासों में असफल रहे। लेकिन जिंदगी में आगे बढ़ने के लिए उनसे जो भी बन पड़ा, उन्होंने किया। उनकी साथी श्रद्धा जोशी, जो अब उनकी पत्नी भी हैं, सिविल सर्विस से जुड़ी हैं, उन्होंने भी खूब मदद की। दोस्तो की हौसला अफजाई और मनोज शर्मा के दृढ़ संकल्प का नतीजा कि वे आज आईपीएस ऑफिसर हैं और उन पर हाल ही में फिल्म 'बारहवीं फेल' बनी है।

**जोशीले बोल...**

- कभी भी अपनी क्षमताओं पर विश्वास नहीं खोना चाहिए। अगर खुद पर विश्वास है, तो आप कुछ भी हासिल कर सकते हैं।
- कोई भी चीज आसानी से नहीं मिलती। इसलिए कड़ी मेहनत करें, चुनौतियों का सामना करते रहें और अपने लक्ष्यों से कभी पीछे न हटें।
- हमेशा अपने लक्ष्य की प्राप्ति में दृढ़ रहें।
- कभी भी अपने सपनों को छोड़ें नहीं और न ही अपनी क्षमताओं पर संदेह करें। जब खुद पर विश्वास रखने लगते हैं, तो आप जो कुछ भी चाहते हैं, उसे हासिल कर सकते हैं।

**सपनों की उम्र नहीं होतीः** हमारे आसपास ऐसे बहुत से लोग हैं, जिनकी जिंदगी से हम अपने जीवन के लिए प्रेरणा ले सकते हैं।

सपने देखने की कोई उम्र नहीं होती और हौसला हो, तो सपने कभी भी पूरे किए जा सकते हैं। कुछ ऐसा ही हुआ हिमाचल प्रदेश के मंडी जिले की रहने वाली वाली रश्मि शर्मा के साथ, जिन्होंने इंफोसिस की अपनी उच्च वेतन वाली नौकरी छोड़ बेटे की देखभाल करते हुए सिविल सेवा परीक्षा की तैयारी की और अब पुलिस उपाधीक्षक यानी डीएसपी का पद हासिल किया है। आपको बता दें कि रश्मि शर्मा ने हिमाचल प्रदेश प्रशासनिक सेवा परीक्षा उत्तीर्ण की है। मूल रूप से सरकाघाट की रहने वाली रश्मि का सपना था सिविल सर्विस में जाने का, लेकिन वे अपने पहले प्रयास में असफल रहीं। फिर

कंप्यूटर साइंस में बीटेक करके वे एक निजी कंपनी में काम करने लगीं, मगर अपने सपने का पीछा नहीं छोड़ा। 2011 में रश्मि की शादी हो गई। घर-परिवार बच्चा और ऑफिस ऐसे में किसी परीक्षा की तैयारी करना संभव तो नहीं था इसलिए बच्चे की देखभाल के लिए उन्होंने 2020 में अपने करियर से ब्रेक लिया और इसी दौरान इन्होंने यूपीएससी परीक्षा की तैयारी पर केंद्रित करने का फैसला किया। इस काम में उनके पति और ससुराल बालों ने पूरा सहयोग दिया, जिससे उन्हें परीक्षा की तैयारी पर ध्यान केंद्रित करने का मौका मिला। उनके समर्पण का परिणाम ही है कि आज ये डीएसपी बन गई हैं।

**महापुरुष दयानंद सरस्वतीः** उन्नीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध भारत के इतिहास का स्वर्ण प्रभात है। कई पावन चरित्र महापुरुष अलग- अलग उत्तरदायित्व लेकर इस समय इस पुण्यभूमि में अवतीर्ण होते हैं। महर्षि दयानंद सरस्वती भी उन्हीं में से एक महाप्रतिभा मंडित महापुरुष हैं। शासन बदला, अंग्रेज आए, संसार की सभ्यता एक नए प्रभाव से बही, बड़े पंडित, विश्व साहित्य, विश्व ज्ञान, विश्व बड़े-बड़े मैत्री की आवाज उठाने लगे, लेकिन भारत उसी प्रकार पौराणिक रूप के मायाजाल में भूला रहा। इस समय ज्ञान स्पर्द्धा के लिए समय को फिर आवश्यकता हुई और महर्षि दयानंद का यही अपराजित प्रकाश है। वह अपार वैदिक ज्ञानराशि के आधार स्तंभ स्वरूप अकेले बड़े-बड़े पंडितों का सामना करते हैं।

चरित्र, स्वास्थ्य, त्याग, ज्ञान और शिष्टता आदि में जो आदर्श महर्षि दयानंद सरस्वती में प्राप्त होते हैं, उसका लेश-मात्र भी अभारतीय पश्चिमी शिक्षा में संभव नहीं है। जो लोग कहते हैं कि वैदिक अथवा प्राचीन शिक्षा द्वारा मनुष्य उतना

उन्नतमना नहीं हो सकता, जितना अंग्रेजी शिक्षा द्वारा होता है, तो महर्षि दयानंद सरस्वती इसके प्रत्यक्ष खंडन हैं। महर्षि दयानंद जी से बढ़कर भी मनुष्य होता है, इसका प्रमाण प्राप्त नहीं हो सकता। हमें अपने सुधार के लिए क्या-क्या करना चाहिए ? हमारे सामाजिक उन्नयन में क्या-क्या और कहां-कहां रुकावटें हैं? हमें मुक्ति के लिए कौन-सा मार्ग ग्रहण करना चाहिए, यह महर्षि दयानंद सरस्वती ने अच्छी तरह समझाया है। आर्य समाज की प्रतिष्ठा, उसकी प्रगति एक दिव्य स्फूर्ति की प्रगति है। नवीन विचारों के इस युग में देश की महिलाओं, पतितों तथा ब्राह्मणेतर जातियों के अधिकार के लिए महर्षि दयानंद तथा आर्य समाज से बढ़कर किसी भी समाज ने कार्य नहीं किया। आज जो जागरण भारत में दिखाई पड़ता है, इसका संपूर्ण श्रेय आर्य समाज को है। स्वधर्म में दीक्षित करने का यहां इसी समाज से श्रीगणेश हुआ है। भिन्न जाति वाले बंधुओं को उठाने तथा ब्राह्मण-क्षत्रियों के प्रहारों से बचाने का उद्यम आर्य समाज ही करता रहा है। शहर-शहर, जिले-जिले, कस्बे-कस्बे में इसी उदारता के कारण आर्य समाज की स्थापना हो गई। स्वामी जी राष्ट्रभाषा हिंदी के भी प्रवर्तक हैं और आर्य समाज के प्रचार की तो भाषा ही यही रही है।

शिक्षण के लिए गुरुकुल जैसी संस्था निर्मित हो गई। एक नया ही जीवन देश में लहराने लगा। हमें ऋषियों की संतान होने का सौभाग्य प्राप्त है और इसके लिए हम गर्व करते हैं, तो कहना होगा कि ऋषि दयानंद से बढ़कर हमारा उपकार इधर किसी भी दूसरे महापुरुष ने नहीं किया, जिन्होंने स्वयं

कुछ भी न लेकर हमें अपार ज्ञानराशि वेदों से परिचित कर दिया। **सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'**

**इसीलिए प्रेम फलित होगाः** मैं टैक्सी में आ रही थी। रेडियो पर एक पुराना हिंदी गाना चल रहा था दिल दे दिया है, जान तुम्हें देंगे, दगा नहीं करेंगे सनम। मुझे हंसी आ गई। यह गाना न जाने कितने प्रेमियों ने रोमांटिक पलों में गाया-गुनगुनाया होगा, लेकिन विवाह के बाद कहां चला जाता है वह प्यार? जो दिल और जान देने के वादे करता है, वह पुरुष पति बनते ही बाजार से सब्जी लाने की बात पर क्यों झुंझलाता है? प्रेमी पर जान छिड़कने वाली लड़की उसकी कमियां ही देखती रहती है।

प्रेम की ऐसी दुर्घटनाएं सदियों से होती चली आई हैं। यह एक अजीब सच है कि सफल प्रेमी वे होते हैं, जो कभी मिल नहीं पाते। मानवीय प्रेम इंद्रधनुष की भांति है, दिखता बहुत सुंदर है, पर हाथ कभी नहीं आता तथापि आज मनुष्य को प्रेम की बहुत जरूरत है। इसके अभाव में ही सारी सामाजिक समस्याएं पैदा हो रही हैं। मगर आज की बुद्धिजीवी दुनिया में प्रेम बड़ा कठिन मालूम होता है, क्योंकि मुश्किल यह है कि हमारा जीवन सामाजिक है और प्रेम सामाजिक घटना नहीं है। यह नितांत वैयक्तिक अनुभूति है। प्रेम की स्फुरणा होते ही लोग एकांत चाहते हैं, और उसके लिए घर-परिवार में कोई स्वीकृति नहीं है। इस कारण प्रेम पनपता नहीं है।

इसमें एक और पेंच है। प्रेम का यदि कोई दुश्मन है, तो यह है अहंकार। आज कल हरेक व्यक्ति का अहंकार इतना मजबूत है कि प्रेम करना असंभव सा हो गया है। बुद्धि, तर्क और

मशीनों की दुनिया में प्रेम की बलि चढ़ गई। प्रेम का पथ बिल्कुल अलग है, उसमें झुकना होता है, खुद से ज्यादा दूसरे की फिक्र की जाती है। यहां हारना ही बड़ी जीत मालूम होती है, क्योंकि आप प्रेम के लिए हार रहे हैं। यह भाषा ही किसी और जगत की है, जिसे हम भूल गए हैं। इसीलिए जीवन में इतनी उदासी है, मस्ती नहीं है। बुद्धि की पकड़ से निकलकर थोड़ा दिल के दरिया में गोते लगाएं, जिंदगी के मायने ही बदल जाएंगे।

प्रेम की शुरुआत कहां से करें? ओशो ने कुछ सूत्र बताए हैं- एक, पहले खुद से प्रेम करें। क्या आपके अंदर प्रेम का झरना है? जो खुद से प्रेम नहीं कर सकता, वह दूसरों से भला कैसे प्यार करेगा ? दूसरा कदम, चूंकि मनुष्य से प्रेम करना बहुत कठिन है, इसलिए आप मनुष्येतर चीजों से प्रेम करना शुरू करें। उनका कोई अहंकार नहीं है। इनमें प्रकृति, पशु-पक्षी, यहां तक कि आस-पास की वस्तुएं, सभी शामिल हैं।

हर एक चीज के साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करके देखें। उनके प्रेम की प्रतिध्वनि आपके पास लौटकर आएगी। इसके बाद आप इंसान से प्रेम करने के लिए तैयार होंगे। अब तक आप इतने तरल हो चुके होंगे कि दूसरों का अहंकार आपसे टकराएगा नहीं, इसीलिए प्रेम फलित होगा। **अमृत साधना**

**खुद की जिम्मेदारी लेः** कौन कहता है कि विपरीत परिस्थितियों में पढ़ाई नहीं की जा सकती। अगर मन में पढ़-लिख कर कुछ कर गुजरने का जज्बा हो, तो गरीबी हो या कोई अन्य बाधा, तब कोई व्यक्ति खुद की जिम्मेदारी लेना सीख

जाता है, और वह एक दिन कामयाब जरूर होता है। एक छोटे से दक्षिण भारतीय गांव मुक्कुदल की जन्मी अश्वीथा शेट्टी ने इस बात को सिद्ध भी किया है। वह एक ऐसे गरीब परिवार से ताल्लुक रखती हैं, जहां लड़कियों को बोझ समझा जाता है, ऐसे में पढ़ाई- लिखाई के बारे में सोचना तो दूर की बात है। इसके बावजूद अश्वीथा ने सभी बाधाओं को पार करके शिक्षा के जरिये न सिर्फ अपनी जिंदगी बदली, बल्कि वो आज कई ग्रामीण युवाओं को प्रोत्साहित भी कर रही हैं और उन्हें पढ़ने के लिए प्रेरित कर रही हैं। 'द बोधि ट्री' की फाउंडर अश्वीथा बचपन में अपने परिवार के साथ बीड़ी बनाने का काम करती थीं।

जिस गांव में अश्वीथा रहती थीं, वहां की महिलाओं की स्थिति बहुत ही बुरी थी। कहीं न कहीं इससे उन्हें कुछ करने की प्रेरणा मिली और पढ़ने का जुनून सवार हो गया। दरअसल तेरह साल की उम्र में अमेरिकी लेखिका हेलेन केलर की आत्मकथा पढ़ी और उसे पढ़ कर उन्हें अहसास हुआ कि उनमें खुद के जीवन को बदलने की ताकत है। उन्हें स्कॉलरशिप मिल गई, जिससे उन्होंने पढ़ाई जारी रखी। अब वो महिलाओं को पढ़ने में मदद कर रही हैं।

**चॉकलेट जैसी कहानियां:** एक जमाना था, जब लोग कहानियों और मुहावरों में बातें करते थे। उनमें ज्यादा तर्क-कुतर्क करने की जरूरत नहीं होती। थोड़े से शब्दों में गहरी बात कही जा सकती थी और परोक्ष रूप से बात दिल में पहुंच जाती थी। इसलिए उस जमाने के लोग कम बोलते थे, आज की तरह बातूनी नहीं होते थे। वे विज्ञान और तर्क से अप्रभावित दिन थे। लोग किस्से-कहानियां सुनना-सुनाना पसंद करते। हर कृत्य के

पीछे कोई न कोई पुराण कथा जरूर होती। जैसे, बाहर से घर आने पर पांवों को आगे-पीछे से धोना बहुत जरूरी था। ऐसा किसी 'हाइजीन' या स्वच्छता के ख्याल से नहीं था, बल्कि इसके पीछे यह कहानी थी कि हजारों साल पहले. राजा बलि ने अपनी एड़ियां नहीं धोई थीं, इसलिए उनके शरीर में कलि प्रवेश कर गया। अब आप पूछेंगे, कलि वहां क्या कर रहा था? उसकी भी कहानी है।

राजा बलि बहुत पुण्यशाली थे और कलि को उनके द्वारा ही मनुष्य लोक में प्रवेश करना था, इसलिए वह बलि के आसपास. चक्कर काटता रहता। बलि ऐसे दूध के घुले थे कि एक भी गलत काम नहीं करते थे, इसलिए कलि को मौका नहीं मिल पाता। आखिरकार इस छोटी सी गलती से कलि को मौका मिला और वह झट से प्रवेश कर गया। उसके बाद कलियुग शुरू हुआ। इसका इतना गहरा संस्कार मेरे मन में खुदा हुआ है कि आज भी मैं पैर धोने के वक्त एड़ियों को पहले घोती हूं। अभी मैंने धनतेरस की प्यारी सी कहानी पढ़ी। हीम नाम का राजा था, उसके सोलह साल के पुत्र की कुंडली में लिखा था कि विवाह होने के चौथे दिन सर्पदंश से उसकी मृत्यु हो जाएगी। उसकी पत्नी को इसका पता चला, तो उस चतुर नव-विवाहिता ने क्या किया ? उसने राजकुमार के शयन कक्ष के बाहर द्वार पर ही ढेर सारे सोने-जवाहरात और आभूषण रखे और पूरे महल में हजारों दीप जलवाए। स्वर्ण की चमक से दीपक ऐसे जगमगाए, जैसे सूरज निकल आया हो। उसने रात भर पति को सोने न दिया, एक से एक मधुर गीत गाती रही। पूरा वातावरण इतना सम्मोहक था कि जब यमराज सांप बनकर

राजकुमारको डसने आए, तो वहां की चकाचौंध से उनकी आंखें चुंधिया गईं और युवती के मधुर संगीत से मंत्रमुग्ध होकर वह स्वर्ण के ढेर पर कुंडली मारकर बैठ गए। जब उन्हें होश आया, सूरज ऊग आया था, सो वह चुपचाप वापस चले गए।

ये सारगर्भित कहानियां चॉकलेट की तरह हैं। ये आकर्षक आवरण में लिपटी ज्ञानियों की सीख हैं। इनके आवरण को छोड़ दें और सार निकाल लें, तो हर दिन दिवाली मनाने का मन करेगा। सार यह है कि दिवाली पर जिस तरह आंगन में दीप जलाते हैं, उसी तरह मन में भी दीप जलाते रहें। साल में एक दफा नहीं, हर दिन। **अमृत साधना**

**एक सशक्त हस्ताक्षर:** नट हैमसन, नार्वे के प्रसिद्ध उपन्यासकार और नाटककार थे, जो साहित्य में नोबेल पुरस्कार विजेता भी रहे हैं। मगर, इनकी जिंदगी संघर्षों से भरी थी, जिसका जिक्र उन्होंने अपनी लेखनी में भी किया।

माता-पिता द्वारा दारिद्रय के कारण परित्यक्त एक बालक 'जोरू के गुलाम' चाचा के संरक्षण में रहता है, चाची द्वारा ढायी गई सभी अमानवीय यातनाएं झेलता है। इस घोर गरीबी और दैहिक ताड़ना के कारण उसे पढ़ने का रोग भी लग जाता है, कोढ में खाज। कब्रिस्तान में छिपकर कब्रों पर अंकित वर्ण और शब्दों से बह अपना अक्षर ज्ञान प्रारंभ करता है। चाची ने घर से निकाल दिया है। भूख से व्याकुल बालक अपने कुत्ते की भूख की दुहाई देकर कसाई से एक सूखी हड्डी मांग लाता है और किसी मजार की आड़ में उसे चिचोड़ने लगता है। हड्डी की एक फांस उसकी श्वास नली में अटक जाती है। चीखकर रोता हुआ बालक कहता है. 'परमात्मा, यदि तेरा स्वर्ग कहीं है, तो मेरी

भूख की ज्वाला में भस्म हो जाए।' यही बालक नोबेल पुरस्कार विजेता नट हैमसन के नाम से जाना गया। भूख की इसी ऐंठन-मरोड़न को उसने पूरी शिद्दत के साथ अपने विश्व विख्यात उपन्यास 'हगर' (भूख) में अभिव्यक्ति दी।

19 दिसंबर, 1910 में जन्मे सुप्रसिद्ध नाटककार ज्यां जेने को इक्कीस की उम्र तक पता नहीं था कि उनके माता-पिता कौन थे। मां का नाम और जन्म स्थान का पता लगाने जब जेने उस स्थान पर पहुंचे, तब मालूम हुआ कि उनका जन्म-स्थान वह प्रसूति गृह है, जहां अवैध संतानें जन्मती हैं। जीवनभर उन्हें अपने माता-पिता का पता नहीं लगा। अवैध जारज बालक को समाज से निरंतर तिरस्कार और प्रताड़नाएं ही मिलती रहीं।

दस की उम्र तक जेने नितांत सीधा-सादा, विनीत और गंभीर बालक था, लेकिन इस बीच समाज से प्राप्त निरंतर भर्त्सनाओं और अवमाननाओं ने जाने कब बालक को चोर बना दिया। चोरी के लिए उसे दंड भी मिलने लगे। चोर बनना भले ही उसकी नीयत न रही हो, लेकिन नियति अवश्य थी। ज्यां जेने का प्रारंभिक जीवन चोरों, उच्चकों और कैदियों के बीच बीता। 1949 में 'थीब्ज जर्नल' में ज्यां जेने स्वीकार करते हैं कि 'परिवार से परित्यक्त होने के कारण मेरे लिए यह सहज ही था कि मैं समलिंगियों से प्रेम करूं और चोरी या चोरी के अपराधों का साझीदार बनूं। इस प्रकार मैने उस समाज को दुत्कार दिया जिसने मुझे दुत्कार दिया था।'

ज्यां जेने ने अपने पतित जीवन को उसी गहन आस्था और श्रद्धा से स्वीकार किया था, जिस श्रद्धा और समर्पण भाव से धर्म को अंगीकार किया जाता है। उसने अपने लिए पतित

जीवन को ही दिव्य माना। उसकी इसी विशिष्टता और अद्वितीयता के कारण ज्यां पाल सार्त्र ने उसे संत जेने कहा है। उन्होंने 'सेंट जेने' नामक एक पुस्तक ही रच दी।

लंपट जीवनयापन करनेवाले ज्यां जेने ने पहले कविताएं, फिर उपन्यास और बाल नाटक लिखे। बंदी जीवन की यातनाओं, यंत्रणाओं, समलैंगिक यौनाचरण, प्रेमानुभवों की वैयक्तिक रागात्मक लिप्ति से अलग हटकर अपने लेखकीय जीवन के अंतिम चरण में वे निर्वैयक्तिक और वस्तुपरक हो गए। कारागार में एक बंदी को काव्य-रचना करते देख ज्यां जेने ने चुनौती स्वरूप पहली कविता 'कंडेम्ड टु डेथ' रची। यह कविता ऐसे कैदी पर लिखी गई थी, जिसने अपने एक मित्र की हत्या कर दी थी और परिणामस्वरूप उसे फांसी दी गई थी। उस हत्यारे मित्र पर जेने ने शोक-गीत रचा। इसके उपरांत 1940 से 1948 की आठ वर्ष की अवधि में चार उपन्यास लिखे। ये उपन्यास, उपन्यास से अधिक गद्य-कविताएं हैं।

समाज-प्रताड़ित घृणित जीवनयापन के कारण जेने ने इन कृतियों में अपने भीतर पलती हुई सारी कटुता और तिक्तता को अभिव्यक्ति दी है। इन रचनाओं का प्रमुख स्वर विरोध, निषेध और अस्वीकृति का है। यह विरोध, निषेध और अस्वीकृति उन सबके प्रति है, जो समाज-व्यवस्था में स्थापित हैं।

शैशव, कैशोर्य और यौवन की कटु स्मृतियों से आक्रांत जेने का पहला नाटक 'डेथवाच' 1948 में जेल में ही संपन्न हुआ। इसके अनुसार हत्यारा भी उच्च कोटि का हत्यारा बनने के लिए प्रयत्नशील रहता है और सर्वोपरि हत्यारा वह है, जो

अकारण बेहिचक हत्याएं कर सके। इसमें अतिरंजित अभिनय, गाढ़े-भड़कीले रंगों और वहशीपन के माध्यम से जेने ने भयाक्रांत स्वप्निल वातावरण निर्मित करने की असफल चेष्टाएं की हैं। अपेक्षित तटस्थता के अभाव में जेने अकेलेपन के त्रास को, उसकी दुखती, अनुभूति को उसी तीखेपन के साथ उतार नहीं पाया, जितनी कि उस जैसे अनुभूति संपन्न रचनाकार से थी।

1949 में लिखित नाटक 'द मेड्स' में दमित इच्छाओं, भावनाओं और वर्जनाओं को वह अपेक्षाकृत अधिक सफलतापूर्वक रूपापित कर पाया है। 'द मेड्स' का 'अबसर्ड' नाटकों में विशेष महत्व है। इसमे जेने 'ने अवचेतन कामनाओं, त्रास और मनोग्रंथियों को अतिरंजित ढंग से चित्रित किया है। जेने की प्रतिभा की परमपरिणति सन् 1956 में लिखित 'द बालकनी' और सन् 1960 में लिखित नाटक 'द ब्लैक्स' में हुई है। जेने के रचना संसार में बुराई ही सबसे बड़ी अच्छाई है। हर प्रकार की कुरूपता, कुंठा और कलुषता को उसने अपने ढंग से शोभा मंडित किया है। उसके अनुसार गंदगी, क्षय और अपराध के बीच ही सौंदर्य जनमता है और पुष्पित-पल्लवित होता है।

वस्तुतः जेने अपने नाटक में असंगति के माध्यम से व्यक्ति की आंतरिक असामाजिक, इच्छाओं का जितना वास्तविक चित्रण करता है, उतना ही सफलतापूर्वक इतिहास की प्रक्रिया का भी विश्लेषण करता है। सारा का सारा जीवन अभिनय का ही पर्याय है। इस तकनीक का प्रयोग जेने ने अपने 'द बालकनी' में किया है। भारत में भी बादल सरकार ने अपने नाटक 'एवं इंद्रजीत' में इसी तकनीक को अपनाया है। भ्रम की

अनेक परतें हैं, नाटक स्वयं में एक भ्रम है। जेने ने दरिद्रता, विरूपता विशेष, निराशा और अनैतिक मानवीय संबंधों को जिस निष्ठा से व्यक्त किया है, वह निष्ठा संत में ही संभव है। आर्तों के शब्दों में 'जेने नाटक रूपी पवित्र अनुष्ठानों का पुरोहित है।'

**दर्शनः** 'मैं निरंतर टूटता जा रहा हूं, लगता है आयु का काल-चक्र मुझे समूचा निगल जाएगा। आयु पर विजय पाने का क्या कोई इलाज है?' इलाज किसी चिकित्सक से पूछा जाता तो शायद बेहतर होता, परंतु...! विश्वास मानिए, चिकित्सा-विज्ञान के पास इसका कोई उत्तर नहीं है।यदि सभी प्रश्नों के उत्तर चिकित्सा-शास्त्र के महान ग्रंथों में होते तो उपलब्धियों और ज्ञात-चेतनाओं पर विजय का दावा करनेवाले काल के हाथों पराजित न होते। सब-कुछ होते, सब-कुछ करते और सब-कुछ पाने के बाद भी जो शेष रह जाता है, वह शून्य है। इसे अस्वीकारना हाथ की मुट्ठी में हवा भरने के समान है। आदमी आयु से वृद्ध नहीं होता। वह आयु के काल-प्रवाह में टूटता भी नहीं; टूट नहीं सकता। आदमी उस दिन वृद्ध होता है, जिस दिन वह प्रगति करना बंद कर देता है।

ज्ञान का चरम लक्ष्य प्राप्त करने का अहं उसका टूटना है। जिस दिन जिज्ञासाएं शांत हो गई, उसी दिन फूलों के पराग का राग झर गया और पराग के झरने के बाद जो शेष रहता है, वह मात्र भविष्य की कल्पना है।

इच्छाओं पर विजय पाने का दंभ भरना अपनी आयु को सूखे हुए चने की घाटियों के बीच छोड़ देना है। इच्छाएं

क्षितिज की तरह अर्थ-संपन्न होते हुए भी, असीम हैं। असीमता का सीमा-बद्ध होना सीलन-भरे कमरे की दुर्गंध में सांस लेना है। वास्तव में ज्ञान अनंत है, इच्छाएं हवाओं का झूमर हैं, जिज्ञासाएं सृष्टि के समाप्त होने पर भी शांत नहीं होतीं, प्राप्त का आभास उत्कंठाओं के द्वार पर ठोकी हुई लकड़ी की कील है।

वास्तव में यहां कुछ भी पूर्ण नहीं है। पूर्ण-ब्रह्म की कल्पना क्षणिक संतोष के लिए खुली हवा में सांस को मात्र विश्राम देना है। सांस का टूटना ज्ञान-अज्ञान का पतन है, पूर्ण-ब्रह्म की मप्ति का दंभ भरना मृत्यु के मोहपाश में सुख की नींद लेना है। अपूर्णता ही पात्र का आधार है। इसीलिए अनंत आयु से अभिषिक्त पृथ्वी चिर-नूतन और चिर-नवीन है।

वर्षों से खड़ा बट-वृक्ष नई शाखाओं और जड़ों में पनपता हुआ आयु की सीमा-रेखा से परे है। वह जीवन को नए अर्थ और नए संदर्भ देता हुआ नई रस-सृष्टि में अपने नवजात तनों को पनपाता हुआ आयु के संरक्षकों को एक चुनौती छोड़ता जाता है।

आदमी के पद-चिह्न गत-आगत और वर्तमान के मार्ग का लक्ष्य निर्धारित करते रहते हैं। आसानी से कहा जा सकता है, जब हाथ पर-हाथ धरकर किए हुए कर्मों की प्रतीक्षा के क्षण आ जाते हैं, आयु अपने आप ढलान पर फिसलने लगती है। यहां आकर आयु वैसे ही धोखा देती है, जैसे संदेह श्रद्धा को कपूर की तरह उड़ा देता है।

संदेह ज्ञान-विज्ञान की प्रगति के लिए आवश्यक होते। हुए भी, मोहभंग और निराशा को जन्म देता ही है। इसीलिए संदेह को शत्रु मानकर दूर रखने का आग्रह किया जाता है।

आधुनिक मशीनी सभ्यता के आवरण में बिका हुआ आदमी सब कुछ पाने के बाद भी चुपके से घुस आनेवाले एक चोर से धोखा जरूर खाता है। यह चोर है, उसकी प्रगति का दंभ भरनेवाला आयु की चरण-सीमा का अंतिम पग-चिह्न।

मृत्यु के द्वार पर पहले मशीनें पहुंचती हैं, फिर आदमी जाता है। मशीनों को किसी तरह जीवित कोई रखता है तो आदमी के हाथ हैं। अर्थ हुआ टूटना मशीनें का धर्म है, जोड़ना आदमी की आवश्यकता है। जोड़ने और टूटने में ही जिंदगी को परिभाषाएं तेजी जाती हैं। जब इनकी आवश्यकता नहीं होती तो शेष रह जाता है मृगतृष्णा में फंसा हुआ आदमी।

हर आदमी महान नहीं होता। शायद कोई आदमी महान नहीं होता। एक सत्य है कि महान व्यक्ति प्रायः आदर्श चरित्रवाले नहीं होते, क्योंकि अधिकांश महान व्यक्ति इस भ्रांत धारणा के शिकार होते हैं कि वे महान है।

वास्तव में महान, स्थितियां हैं जो कार्य और उन कार्यों के परिणामों को जन्म देती हैं। कार्य विशेषण है, उसे संज्ञा देना आवश्यक है, इसलिए उसके साथ एक नाम जोड़ दिया जाता है। इसीलिए प्रत्येक महान पुरुष खंडित काल-खंड की तरह अधूरा ही रह गया है।इसीलिए मेरे दोस्त । आयु के साथ अपनी टूटन और घुटन को न बाधिए और न अकेलेपन के साथ अपने को जोड़िए। जिंदगी के नए अर्थ निरंतर खोजते रहिए, आपके सामने चेतना के नए द्वार खुलते रहेंगे और ठंड में कांपती हुई लड़की की तरह आपकी आयु आपके बरामदे में बैठी आपकी जिंदगी से उभरती हुई धूप का इंतजार करेगी। उसे इंतजार करने दीजिए, क्योंकि हमदर्दी दोस्तों के साथ होती है, दुश्मनों के खोखलेपन का मजाक उड़ाया जाता है।

**शक्ति के साथ शांति:** आजकल लोगों के पास शक्ति बहुत है, मगर शांति बिल्कुल नहीं। छोटी-छोटी बातों पर उत्तेजित हो जाना, किसी की हत्या कर देना, अब आम सी बात हो गई है। इसी का प्रतिफलन हमारी फिल्मों में दिखता है। लोग अपने अंदर से इतने अशांत हैं कि फिल्मी परदे पर ही सही, खून-खराबा, अपराध और हिंसा देखकर संतुष्ट हो जाते हैं। कुछ तो उनके भीतर की भड़ास निकल जाती है। यह एक सामूहिक बीमारी सी बन गई है। इस स्थिति को मनोवैज्ञानिक उपाय से ही बदला जा सकता है, कानून-व्यवस्था से नहीं। कानून सिर्फ आचरण को नियंत्रित कर सकता है, मन को नहीं बदल सकता।

जुंग यूरोप के एक बड़े मनोवैज्ञानिक थे। उनके पास एक आदमी को लाया गया, जो किसी बड़े सेठ के यहां नौकर था। यह आदमी धीर-धीरे पागल होता चला गया था, क्योंकि उसका मालिक सबके सामने उसे डांटता या बुरी तरह अपमानित करता रहता। उस समय उसके मन में होता कि मालिक को पीट डालूं। लेकिन मालिक को पीटा कैसे जा सकता था? उसका दमित क्रोध बढ़ता चला गया, उसे एक 'ऑब्सेशन' हो गया। मालिक उधर कुछ अपमानजनक कहे और इधर उसका हाथ अपने जूते की ओर चला जाए। फिर वह घबराकर अपने को रोक लेता। धीरे-धीर उसके भीतर यह डर बैठ गया कि कहीं किसी दिन में सचमुच मार ही न डालूं। उसे यह डर भी था कि यदि मैंने सचमुच मालिक को मार दिया, तो नौकरी चली जाएगी। इसलिए उसने छुट्टी ले ली और वह घर पर बैठ गया। मगर जब घर में बैठ गया, तब भी उसके मन में मालिक का ही चिंतन चलता रहता कि कहीं रास्ते में वह मुझे मिल

जाए और मैं उसको पीट ही न डालूं। वह सतत तनाव में जीने लगा।

जुंग ने कहा, फिक्र न करें, यह बिल्कुल ठीक हो जाएगा। उन्होंने उस मनोरोगी से कहा, तुम अपने मालिक का एक चित्र ले आओ और अपने घर में यंग लो। रोज दफ्तर जाने के पहले उस चित्र पर पांच जूते मारो और दफ्तर से आने के बाद पांच जूते मारकर सो जाओ। उसने जुंग का कहा माना और चित्र को पांच जूते सुबह और पांच जूते शाम को मारना शुरू कर दिया।

पहले दिन जूते मारकर गया, तो शाम को घर लौटकर उसने कहा, आज मुझे अपने मालिक पर उतना क्रोध नहीं आया, जितना रोज आता था। पंद्रह दिन के भीतर वह आदमी शांति से काम करने लगा और इस बात को खुद उसके मालिक ने महसूस किया। मालिक हैरान था कि आखिर इस आदमी में इतना फर्क कैसे आया ? यह तो बड़ा शांत मालूम पड़ रहा है? महीने भर में ही वह आदमी सामान्य हो गया। निश्चय ही, यह उपाय बड़े पैमाने पर किया जा सकता है। इससे कई सारे सामाजिक अपराध कम हो जाएंगे। **अमृत साधना**

**बुनियादी सवालः** भारत की राजधानी में आजकल(02 सितम्बर 1950) स्वास्थ्य मंत्रियों का सम्मेलन हो रहा है, जिसके पहले दिन हुए प्रधान मंत्री नेहरूजी और केन्द्रीय स्वास्थ्य-मंत्रिणी राजकुमारी अमृतकौर के भाषण हमारे सामने हैं। स्वास्थ्य शरीर रूपी गाड़ी के चलते रहने के लिए आवश्यक है। स्वस्थ शरीर से ही कोई काम हो सकता है। इसलिए जनसाधारण के शरीर स्वस्थ और कार्यक्षम रहें, इसकी ओर जितना ध्यान दिया जाय कम है। यह ध्यान दो तरह से दिया

जा सकता है: एक इस बात का ध्यान रखकर कि शरीर अस्वस्थ न हो जाये, दूसरे ऐसे उपाय करके कि शरीर अस्वस्थ हो, तो उसे स्वस्थ कर लिया जाये। इसके लिए पहला तरीका उपयुक्त एवं पर्याप्त आहार तथा रहन-सहन की दशाओं द्वारा शरीर को बनाये रखना, दूसरा तरीका चिकित्सा या दवा-दारू है। दोनों उपाय एक-दूसरे के पूरक हैं, परन्तु स्पष्टतया पहला बुनियादी है और दूसरा थैगली लगानेवाला। फिर भी आश्चर्य है कि हम दूसरे तरीके पर जितना ध्यान देते और खर्च करते हैं उतना पहले पर नहीं करते। क्या यही कारण नहीं है कि चिकित्सा और दवा दारू में जितनी प्रगति हो रही है, उतनी ही बीमारियां बढ़ रहीं और सेहत बिगड़ रही है?

यह प्रसन्नता की बात है कि प्रधानमंत्री का ध्यान इस ओर गया है और उन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि स्वास्थ्य दवा-दारू की अपेक्षा खाने और रहने जैसी बुनियादी बातों पर कहीं अधिक निर्भर करता है। मतलब यह है कि आदमी को अच्छा खाना मिले और रहन-सहन की दशाएं अच्छी हों, तो बीमार पड़ने की नौबत ही न आये, अतः इस ओर सर्वप्रथम ध्यान दिया जाना चाहिए। दुर्भाग्य की बात यह है कि आज इन बुनियादी बातों में ही हम अत्यन्त अभावग्रस्त हैं। खाने की स्थिति यह है कि अन्न जो हमारा मुख्य आहार है, वह हमें विदेशों से मंगाना पड़ रहा है और विदेशों से आटे या दाने के रूप में जो अन्न आ रहा है वह या तो वहीं से खराब आता है या यहां खराब हो जाता है, जिससे जितना पोषण उससे मिलना चाहिए उतना नहीं मिलता। यही नहीं बल्कि शरीर में कई बीमारियां भी उसके कारण या पोषण के अभाव में पैदा हो जाती हैं। पोषण के लिए हमारा दूसरा मुख्य आहार दूध-घी है,

जिनका शाकाहारियों के लिए और भी महत्व है, परन्तु इनका भी यह हाल है कि पर्याप्त मात्रा में तथा शुद्ध रूप में नहीं मिल पाता।

**बरसात के लोकगीतों में आज भी अमर हैं 'आल्हाः'**
बुंदेलखंड अपनी निर्भीकता और अन्याय के विरुद्ध संघर्ष के लिए विख्यात है। इस कारण उसकी प्रसिद्धि राष्ट्रीय स्तर से उठकर विश्वव्यापी है। आल्हा ऊदल, लाला हरदौल, वीर चंपतराय, महाराजा छत्रसाल, रानी दुर्गावती एवं झांसी की रानी लक्ष्मीबाई आदि समस्त भारत में वीरता, त्याग, आत्म बलिदान के आधार पर पूजनीय और श्रद्धा के पात्र हैं। बुंदेलखंड में इन वीरों और वीरांगनाओं से संबंधित अनेक रचनाएं गद्य एवं पद्म में लिखी गई हैं। इनमें आल्हा ही एकमात्र ऐसे पात्र हैं, जिन पर और जिनके नाम से 'आल्हा खंड' नामक महाकाव्य का सृजन किया गया है।

आल्हा के उदय से बारहवीं शताब्दी में प्रगतिशील राष्ट्रीय विचारधारा अंकुरित हुई, जिसने भाईचारे और विश्वबंधुत्व की भावनाओं का संचार जनमानस में किया। आल्हा ऊदल के पद और प्रभाव की प्रतिष्ठा और लोकप्रियता राष्ट्र सीमाओं से भी परे है। आल्हा ऊदल सामाजिक न्याय के लिए आदि प्रणेता माने गए हैं। जाति मान, प्रतिज्ञा पालन, शरणागत वत्सलता, साधु,सती और स्त्रियों की रक्षा आदि के लिए आत्म बलिदान करने जैसी उदात्त.भावना के वे आगार थे। आल्हा का चरित्र प्रेरित करता है कि देश समाज की उन्नति व प्रगति हेतु हम आपस में कंधे से कंधा मिलाकर चलें। ऐसा कहा जाता है कि राष्ट्रीय रक्षा के महत्व को छत्रपति शिवाजी से पूर्व यदि किसी ने समझा था, तो वे आल्हा ही थे। उनकी नीति रही

है कि चंदेल तथा दिल्ली सहित देश के सभी राज्यों की सामरिक शक्ति को बचाए रख उसका उपयोग यवन आक्रमणकारियों के विरुद्ध संगठित रूप से किया जाए। आल्हा ने देश की बिखरी हुई शक्तियों को मैत्री और प्रेम के द्वारा अपनी उदार प्रवृत्ति का परिचय देते हुए एकता के सूत्र में बांधने का प्रयास किया। यह निश्चित था कि वे अपनी इस नीति में कामयाब हो जाते, तो देश का भौगोलिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक परिदृश्य ही आज कुछ और होता।

आल्हा को छोड़कर विश्व में शायद ही ऐसा कोई इतिहास पुरुष महानायक हो, जिसने अपने जीवन में 52 लड़ाइयां लड़ी हों और उन सभी में अजेय रहे हों। यवन आक्रमणकारियों और पठानों को युद्ध में आल्हा से मुंह की खानी पड़ी। एक अजेय योद्धा के रूप में आज भी उनकी यश पताका ज्यों की त्यों है। यही कारण है कि उनको अमर गाथा सुनने और सुनाने में गर्व की बात मानी जाती है। आल्हा जहां सच्चे मातृ-भक्त थे, राष्ट्रभक्त थे, स्वामी भक्त थे, वहां वे सच्चे सेवक भी थे। आज भी वे राष्ट्रीय-चेतना जन-चेतना के केंद्र हैं। उनके द्वारा स्थापित परंपराएं भारतीय मनीषा की मार्गदर्शक हैं। आल्हा इतिहास सिद्ध और प्रसिद्ध रहें हैं, किन्तु प्रमाणिक चित्र अथवा रूपाकार नहीं है। जन-मन में आल्हा की भाव मूर्ति है।

जिस प्रकार अयोध्या श्री राम के जन्म के कारण, कंस का कारागार मथुरा श्रीकृष्ण के जन्म के कारण, बोध गया विहार भगवान बुद्ध को बोधत्त्व प्राप्त होने के कारण प्रसिद्ध है। उसी प्रकार आल्हा के संबंध से मध्य प्रदेश के सतना जिलांतर्गत मैहर का महत्व भी इसलिए है कि आल्हा ने यहां देवी शारदा की12 वर्ष तक घोर तपस्या की की थी और देवी से अमर होने का वरदान पाया था। कहा जाता है कि देवी उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन देती थीं। अपना शीश काटकर आल्हा ने इसी स्थान में देवी को

भेंट किया था। ऐसा लोक विश्वास है। मैहर का महत्व शारदा देवी के, कारण है। जन-मन में यह मान्यता है कि देवी शारदा और आल्हा का संबंध ऐसा है, जैसा भगवती सीता और मातृभक्त हनुमान का है। देखा गया है कि जहां भगवान श्रीराम के साथ सीताजी विराजमान हैं, हनुमान भी वहीं प्रतिष्ठित हैं।

आज भी बरसात के मौसम में 'आल्हा' लोकगीत गाए जाते हैं, जो उनकी बहादुरी और पराक्रम की याद दिलाते हैं। इन गीतों में उनकी शक्ति, साहस और भाईचारे की मिसाल दी जाती है। कुछ लोग तो यह भी मानते हैं कि आल्हा अमर हैं और आज भी मैहर की शारदा देवी मंदिर में पूजा करने आते हैं। आल्हा और ऊदल सिर्फ योद्धा नहीं थे, बल्कि वे वीरता, स्वाभिमान और भाईचारे के प्रतीक बन गए हैं, जिनकी कहानियां पीढ़ियों से लोगों को प्रेरित करती आ रही है। ये 12वीं सदी में चंदेल वंश के राजा परमादिदेव के सेनापति थे।

**शक्तिहीन कब नहीं हुए पराजितः** हर सत्ता का पराभव तब हुआ है, जब वह पहले शक्ति के साथ खूब विकसित हुई है, और फिर अहं के गर्त में गिरकर प्रायः लुटती चली गई। इस तरह के न जाने कितने उदाहरण है, जो समूची दुनिया में बिखरे पड़े हैं। ऐसे ही कुछ किस्से जानिए।

मुहम्मद शाह रंगीला की दास्तान किसने नहीं सुनी। मुगल बादशाह औरंगजेब के इस बेटे ने 28 साल तक राज्य किया। कहा जाता है कि मुहम्मद शाह रंगीला अत्यंत कलाप्रिय और समन्वयवादी बादशाह था। कई वर्षों तक तो उसका शासन चुस्त-दुरुस्त बना रहा, लेकिन उसके बाद मुहम्मद शाह रंगीला ने महफिलें सजानी शुरू कर दी। दुर्भाग्य से उसी के

शासन काल में नादिरशाह ने हमला बोला और पंजाब को बुरी तरह लूटा। जब तक मुहम्मद शाह दया, धर्म और जनसेवक के रूप में शासक पद पर बना रहा, उसका नाम योग्य और कला प्रेमी बादशाह के रूप में लिया जाता रहा। लेकिन अहं का घुन लगते ही मुहम्मद शाह को पराजित होना पड़ा।

रोम के बादशाह नीरो के बारे में तो दिलचस्प घटना सुनने को मिलती है- 'जब रोम जल रहा था, तब नीरो बांसुरी बजा रहा था।' वह बांसुरी के सुरों में संगीत की धुनें खोजने की कोशिश कर रहा था। उसने ऐसा क्यों किया, वह आज तक समझ से परे है, क्योंकि संगीत का अपना स्थान है, तो सुरक्षा उससे ज्यादा बड़ी चीज है। यदि शासन ही सुरक्षित नहीं रहेगा, तो संगीत के स्बर कहां तक टिक पाएंगे ?

अपनी हठधर्मिता के कारण मुसोलिनी मारा गया था। दूसरे महायुद्ध में हिटलर के साथ मिलकर मुसोलिनी ने कम आतंक नहीं किए, लेकिन उसे इस बात की तनिक भी चिंता नहीं थी कि अपनी जिद को स्थायी बनाए रखने के लिए शक्ति को क्षीण होने से बचाना बहुत जरूरी है। इसी प्रसंग में हिटलर से बड़ा उदाहरण और किसी का नहीं है। एक बर्बर शासक के रूप में हिटलर का उदय हुआ था। आज भी यह दुनिया विशेष रूप से समूचा यूरोप हिटलर के आतंक से उबर नहीं सका। वह पहले जर्मन की समाजवादी पार्टी का एक कार्यकर्ता था। उसने अपनी शक्ति एकत्रित की, और फिर जर्मनी का शासन अपने हाथ में समेट लिया। विश्व-विजय की आकांक्षा ने उसके भीतर जन्म लिया। जिस अमानुषिक नर-संहार और विध्वंस का परिचय हिटलर ने दिया है, इतिहास में वैसा कोई व्यक्ति नहीं मिलता। हिटलर सोचता रहा कि जिन देशों पर उसने बलात

कब्जा किया है, वही उसकी शक्ति के एक अंग बन जाएंगे। लेकिन महाविजेता हिटलर का पराभव तब हुआ, जब वे शक्ति के शिखर पर पहुंचकर अपने पैरों को संभाल नहीं पाए और चोटी से नीचे फिसलने लगे।

एक रात में युगांडा का शासन हथियाने वाले ईदी अमीन के कारनामे हम अभी तक भूले नहीं हैं। उसने जहां एक सांस में सारी ताकत हथियाई थी, वह उसे संभाल नहीं सका। तब उसे भगोड़े सैनिक की तरह कायरतापूर्ण तरीके से अपने देश से भागना पड़ा। ईदी अमीन ने एक गुंडा-शासन की स्थापना कर अफ्रीका को दहला दिया था। उसको इस बात की चिंता नहीं थी कि हिटलर जैसे शासकों के दिन अब लद चुके हैं।

हमारे साहित्य में शिव की कल्पना एक संतुलित शक्ति की कल्पना है। कभी उनका रौद्र रूप भी दिखा है, और फिर दूसरे ही क्षण में वे अत्यंत दयालु और सहृदय दिव्य पुरुष के रूप में सामने आए हैं। संतुलित शक्ति का ही कारण है कि शिव को आज तक पराजय का सामना नहीं देखना पड़ा। वे अपराजेय शक्ति के प्रतीक बने हुए हैं। शिव-जैसी संतुलित शक्ति कितने लोग कायम रखते हैं? आजादी से लेकर आजादी के बाद अब तक की घटनाओं से स्पष्ट है कि कई बार हमने अपनी शक्तियां एकत्रित तो की हैं, पर उनका दुरुपयोग भी किया है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शक्ति एक मूल तत्व है। उसके बिना जीता हुआ आदमी भी किसी मृतक से कम नहीं है। अकसर ऐसे आदमी को कायर व शक्तिहीन कहा जाता है। व्यक्ति की तरह समाज और राष्ट्र की भी हालत ऐसी ही होती है, क्योंकि आखिर ये हैं व्यक्तियों के समूह ही। इस प्रसंग में डॉ. हरगोविंद खुराना का यह शोच विचारणीय है कि वैज्ञानिक साधनों के सहारे पूरे समाज और राष्ट्र को कायर बनाया जा

सकता है और शक्तिशाली भी। अर्थ यह हुआ कि आदमी अपनी उन्नति और अवनति के रास्ते स्वयं खोजता है। लेकिन एक बात स्पष्ट है कि यह खोज सबके बस की नहीं है। इसके लिए शक्ति की जरूरत पड़ती है। जो शक्तिहीन हैं, वे न तो कोई प्रतिमान स्थापित कर सकते हैं, ना किसी समाज की रीढ़ बन सकते हैं। रीढ़ के बिना खड़ा हुआ आदमी सीधे घुटने टेकता है।'

**दृष्टिबाधित महिला आंगमो ने एवरेस्ट फतह कियाः** हिमाचल प्रदेश में किन्नौर जिला निवासी आदिवासी महिला छोंजिन आंगमो ने माउंट एवरेस्ट फतह कर लिया है। वह एवरेस्ट पर चढ़ने वाली भारत की पहली दृष्टिबाधित महिला और दुनिया की पांचवीं ऐसी शख्स बन गई हैं।

**शेरपा की 14 दिनों में चार बार एवरेस्ट पर चढ़ाई:** 29 वर्षीय ताशी ग्यालजेन शेरपा ने महज 14 दिनों में चार बार माउंट एवरेस्ट पर चढ़कर नया रिकॉर्ड बनाया है। आयोजक टीम के अनुसार, शेरपा ने शुक्रवार, 23 मई 2025 को सुबह 3.13 बजे अपनी अंतिम चढ़ाई, की और विश्व रिकॉर्ड बनाया।

**मां मैंने चोरी नहीं की, माफ करनाः** पश्चिम मेदिनीपुर जिले के पंसकुरा में एक सनसनीखेज मामला सामने आया है। दुकान से कुरकुरे के पैकेट चोरी करने का आरोप लगने के बाद 12 वर्षीय लड़के ने सुसाइड नोट में मां मैंने चोरी नहीं की' लिखकर जान दे दी। पुलिस अधिकारी ने बताया कि कक्षा सात का छात्र कृष्णेंदु दास गुरुवार को पंसकुरा इलाके के गोसाईबर बाजार में एक दुकान पर कुरकुरे लेने पहुंचा। वहां दुकानदार शुभंकर दीक्षित को नहीं पाकर, उसने कई बार उन्हें बुलाया, लेकिन दीक्षित नहीं आए। काफी देर रुकने के बाद भी जब कोई

नहीं आया तो एक पैकेट कुरकुरे लेकर वह घर की तरफ आने लगा। इसी दौरान शुभंकर भी वहां आ गया और उसने छात्र पर चोरी का इल्जाम लगाते हुए उसे पकड़ लिया। इसके बाद उसे थप्पड़ मारे। साथ ही सबके सामने उठक-बैठक करने को कहा। लड़के की मां को भी मौके पर बुलाया गया। मां ने भी उसे डांटा और थप्पड़ मारे।

घटना के बाद नाराज कृष्णेंदु अपनी मां के साथ घर लौटा और कमरे में चला गया। कमरे का दरवाजा बंद कर लिया। जहां उसने कीटनाशक पीकर आत्महत्या कर ली।

**तीन पैरोंवाला फुटबॉल खिलाड़ीः** कहानी तीन टांगों वाले एक शख्स की, जो 77 सालों तक लोगों के बीच बना रहा अपने उसी असाधारण रूप के साथ। तीन टांगे होने के बावजूद उसके पास गजब की फुर्ती थी और जब वह फुटबॉल खेलता तो लोग देखते रह जाते।

यह एक विचित्र फुटबाल खिलाड़ी था। जब वह मैदान में आता, तो लोग टीम के बड़े से बड़े खिलाड़ी की उपेक्षा कर, केवल उसी की ओर निगाह लगाए रखते। जब वह फुटवाल को किक लगाता, तब पूरा मैदान दर्शकों की तालियों से गूंज उठता। सामान्यतः फुटबॉल खिलाड़ी बायें या दायें पैर से गेंद को किक लगाते, पर यह खिलाड़ी अपने दोनों पैर जमीन पर रखे हुए तीसरे पैर से गेंद को ऐसी किक लगाता कि वह खिलाड़ियों के सिरों के ऊपर से गुजरती दूर जा गिरती। शायद आप सोचें कि उसका तीसरा पैर नकली व लकड़ी का होगा। पर, ऐसी बात नहीं है। उसका तीसरा पैर भी शेष दोनों पैरों की भांति हाड़-मांस का बना था और अपने इसी तीसरे पैर के कारण वह दर्शकों में लोकप्रिय भी था, जिसका नाम था फ्रैंक लेटिनी। जो 1966 तक यूरोप और अमेरिका के फुटबॉल

प्रेमियों और सरकस के दर्शकों का एक चहेता खिलाड़ी और कलाकार था।

फ्रैंक का जन्म 19वीं शती के बिल्कुल अंत में सिसली में हुआ था। उसकी मां की सेवा के लिए नियुक्त नर्स तो उस पर नजर पड़ते ही चीख उठी थी। उसे अपनी आंखों पर विश्वास नहीं हुआ, उसे लगा था, जैसे वह कोई दुस्वप्न देख रही है। तभी डॉक्टर ने कठोर स्वरों में उससे कहा था कि देखो किसी को इसके जन्म की भनक तक न पड़े। पर, डॉक्टर की चेतावनी व्यर्थ सिद्ध हुई। नर्स की चीख ने पूरे नर्सिंग होम में बेचैनी भर दी थी। पूरे अस्पताल में यह खबर फैलती गई कि वहां एक विचित्र बच्चे ने जन्म लिया है, जिसके तीन पैर हैं।

बच्चे को छिपा दिया गया, ताकि मां की नजर उस पर न पड़े। जब-जब मां पूछती कि बच्चा कहां है? तब-तब उसे उत्तर मिलता कि उसे नहलाया जा रहा है या कपड़े पहनाये जा रहे हैं। धीरे-धीरे असल बात अस्पताल के कमरे में पलंग पर लेटी उसकी मां तक पहुंची। पहले तो उसने फूट-फूटकर रोना शुरू किया, लेकिन डॉक्टर्स व नर्सों के समझाने पर उसने अपने मन को समझाया। बाद में विकलांगों के स्कूल में रहते हुए धीरे धीरे फ्रैंक के सोचने का ढंग बदल गया। उसे लगने लगा कि जीवन बहुत खूबसूरत है। इस जीवन का उसे आनंद उठाना चाहिए व अपनी शारीरिक विकृति का बेहतर से बेहतर उपयोग करना चाहिए। जब वह स्कूल से बाहर आया, तब उसके सामने सरकस में शामिल होने का प्रस्ताव रखा गया। फ्रैंक पहले तो झिझका, फिर उसने सोचा, उसके तीसरे पैर का उपयोग इससे अधिक अच्छा कहीं नहीं हो सकता। उसने सरकस में शामिल

होना मंजूर कर लिया। अब फ्रैंक ने अपने तीसरे पैर को एक नियामत समझना शुरू कर दिया था।

एक फुटबॉल प्लेयर से उसने अपने तीसरे पैर से फुटबॉल को किक करना सीखा। तीसरे पैर से किक लगाना उसके सरकस का एक लोकप्रिय खेल बन गया, तब उसने सोचा, 'मैं अपने इस तीसरे पैर के कारण क्यों परेशान हूं। उसके कारण मुझे कोई कष्ट नहीं है। में दौड़ सकता हूं, खेल सकता हूं। चाहूं तो इस तीसरे पैर से ठोकर भी लगा सकता है।

उन दिनों इटली, विशेषकर सिसली के लोग एक सुखी जिंदगी की तलाश में अमेरिका जा रहे थे। एक दिन फ्रैंक के पिता भी अपने पूरे परिवार के साथ अमेरिका के लिए रवाना हुए। उस समय फ्रैंक आठ बरस का था। अमेरिका यात्रा के दौरान जहाज में जिन यात्रियों ने फ्रैंक को देखा, उनकी आंखें आश्चर्य से फटी की फटी रह गईं। उनमें कुछ यात्रियों का संबंध सरकसों से भी था। उन्हें लगा कि तीन पैरोंवाले फ्रैंक का प्रदर्शन करके अच्छी-खासी कमाई कर सकते हैं। इसलिए अमेरिका पहुंचते ही उन्होंने फ्रैंक के पिता के सामने आकर्षक प्रस्ताव रखने शुरू कर दिए। पर, उनके प्रस्तावों को फ्रैंक की माता ने ही नहीं, पिता ने भी ठुकरा दिया। फ्रैंक के माता-पिता ने उसे एक स्कूल भर्ती करवा दिया। स्कूल के नाम से पहले तो बहुत प्रसन्न हुआ, पर जब स्कूल में बच्चों ने उसकी तरफ अजीब निगाहों से देखना शुरू किया, तब वह उदास हो उठा। उसकी पीड़ा उसके माता-पिता से देखी नहीं गयी। उन्होंने उसे उस स्कूल से निकालकर विकलांगों के एक स्कूल में भरती करवा दिया। विकलांगों के स्कूल में पहुंचते ही फ्रैंक पहले तो घबरा गया। फिर विकलांग बच्चों की दयनीय स्थिति देखकर उसकी

कोमल मन द्रवित हो उठा। उसके तीन पैरों वाले शरीर के लिए एक विशेष प्रकार के सूट बनाए जाते। उसे जूतों के भी दो जोड़े खरीदने पड़ते। किसी के यह पूछने पर कि दो जोड़े जूते खरीदने से क्या उसके पैसों का अपव्यय नहीं होता, उसने बताया, 'मैं अपना चौथा फालतू जूता एक ऐसे मित्र को दे देता हूं, जिसकी एक ही टांग है, इस तरह से मेरे उस फालतू जूते का उपयोग हो जाता है।'

एक समय ऐसा आया, जब फ्रैंक की इच्छा घर बसाने की हुई। उसने बाकायदा विवाह किया और चार स्वस्थ बच्चों का पिता बना। इन्हीं तीन पैरों के साथ वह 77 की आयु तक जीवित रहा। उसकी वह विकृत देह लोगों के लिए जीवन के संघर्षों से जूझने की प्रबल इच्छाशक्ति का एक सशक्त उदाहरण बन गई।

**मिसाल बन गई माला की जिंदगीः** 25 साल पहले महाराष्ट्र के जलगांव शहर में कूड़ेदान में एक नवजात दृष्टिबाधित लड़की मिली थी। उस लड़की को वहां फेंकने वाले उसके माता-पिता को यह अंदाजा नहीं था कि उनकी यह होनहार बेटी बड़ी हो कर ना जाने कितनों के लिए प्रेरणा बनेगी। उस नवजात को अमरावती के बाल सुधार गृह में समाज सुधारक शंकरबाबा पापलकर का संरक्षण मिला। उन्होंने ही उस अबोध बालिका का नाम रखा, माला पापलकर। लड़की को ब्रेल लिपी में पढ़ाने का काम भी किया बाबा ने। शहर के यूनिक अकादमी के निर्देशक अमोल पाटिल ने बच्ची को पढ़ाने की जिम्मेदारी उठाई और आज माला लोक सेवा परीक्षा में उत्तीर्ण हो कर नागपुर कलेक्टर ऑफिस में राजस्व सहायक के बतौर काम करने जा रही हैं।

**मन की पांच अवस्थाः** गुणों के आधार पर मन को हम पांच अवस्थाओं में बांटते हैं। जैसे आपके यहां शिक्षा के पांच स्तर होते हैं- किंडर-गार्टेन, प्राइमरी, मिडिल, हायर सेकेंडरी और फिर यूनिवर्सिटी इत्यादि। उसी प्रकार मन की पांच अवस्थाएं होती हैं। मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध।

मूढ़ स्थिति में मन की प्रतिक्रिया बहुत मंद रहती है। ऐसी स्थिति वाले व्यक्ति को गाली दो, प्रेम करो या उसकी कुछ सेवा करो, उसकी प्रतिक्रिया इतनी धीमी होती है कि वह व्यक्ति चल नहीं सकता। अगर ऐसे व्यक्ति से आंखें बंद कर ध्यान कराओगे, तो निश्चित रूप से वह सो जाएगा, क्योंकि उसका मन प्रतिक्रियाशील नहीं है। उसके लिए क्या साधना होगी? उसकी साधना है, कीर्तन-भजन, उससे यही कराना चाहिए।

मन की दूसरी स्थिति है क्षिप्त। क्षिप्त मन किसे कहते हैं? टूटा हुआ मन, निराश और हताश मन। जीवन के कष्टों से व्यक्ति के जीवन में पारिवारिक, सामाजिक और भावनात्मक क्लेश होते हैं, तो उसका मन एक जगह टिक नहीं सकता है। उसका आधार बिन्दु नहीं है, उसका मन हवा में उस पतंग की तरह है, जिसकी डोर कट चुकी है, ऐसे व्यक्ति की अगर आप बैठकर ध्यान करने को कहें, तो उसका माथा सरक जाएगा, फिर उसको पागलखाने भेजना पड़ेगा। तब ऐसे व्यक्ति को क्या साधना करानी चाहिए ? उससे आसन, प्राणायाम, मुद्रा, बंध। बंध यानी हठयोग कराना चाहिए।

जब मैं यही व्याख्यान यूरोप में देता हूं, तो वे कहते हैं, 'स्वामीजी, आप ध्यान क्यों नहीं सिखलाते ?' हम कहते हैं, 'सब

पागलखाने चले जाओगे, क्योंकि तुम लोगों का दिल टूट चुका है, तुम बिना डोर की पतंग हो। पहले धरती पर उतरो, फिर तुम्हें ध्यान सिखलाएंगे।' हठयोग की जो आसन-प्राणायाम की क्रियाएं हैं, इन्हें समाज में चारों ओर फैलाना चाहिए।

मन की तीसरी अवस्था है विक्षिप्त। इसमें मन घड़ी के पेण्डुलम की तरह होता है। थोड़ी देर मन भटकता है, फिर वापस आता है। मन का केंद्र बिन्दु है, मगर वह बीच-बीच में उड़कर चला जाता है। ऐसे लोगों के लिए राजयोग है। राजयोग क्या है? भ्रू-मध्य में ध्यान, मंत्र का जप, उन चक्रों पर ध्यान, जो शरीर में मेरुदण्ड के अंदर होते हैं या नादयोग का ध्यान आदि।

चौथी स्थिति एकाग्र मन की है। एकाग्र मन वाला व्यक्ति जैसे ही आंखें बंद करता है, उसका मन एक जगह पर एकाग्र हो जाता है, उसे ज्यादा मेहनत नहीं करनी पड़ती। ऐसे व्यक्ति गुणी, महापुरुष और शक्ति-सम्पन्न लोग होते हैं। पांचवी स्थिति निरुद्ध मन में वृत्तियों का पूर्ण निरोध हो जाता है। मतलब, जिसकी जैसी प्रवृत्ति होगी, वह उस स्थिति में रहेगा। मन की इन पांच अवस्थाओं को जानकर ध्यान या एकाग्रता का अभ्यास करना चाहिये। **स्वामी सत्यानंद सरस्वती**

**तैराक बकुला बेनः** जहां बढ़ती उम्र को बड़ी बाधा माना जाता है, वहीं सूरत की 82 वर्षीय बकुला बेन ने इसे अपनी ताकत बना लिया है। उम्र को मात देकर वो कैसे बनी हैं स्विमिंग चैंपियन, यह भी एक दिलचस्प कहानी है

लोग क्या कहेंगे ? कुछ नया नहीं सीख सकते, क्योंकि उम्र हो चली है? बढ़ती उम्र का हवाला देकर अक्सर उम्रदराज

लोग अपनी जिंदगी को एक तय खांचे में ढाल लेते हैं। सूरत की बकुला बेन पटेल ऐसी नहीं हैं। अपनी उम्र को ही ताकत बनाकर वह तैराकी में 554 मेडल जीत चुकी हैं। हैरानी की बात यह है कि उन्होंने 58 की उम्र में स्विमिंग करना शुरू किया था और अपने उस कौशल को बढ़ाकर स्विमिंग प्रतियोगिता में भाग लेना शुरू किया। यह उनका जुनून ही है कि वो देश-विदेश में कई प्रतियोगिता में भाग ले चुकी हैं और आज भी उनकी ऊर्जा देखने लायक है।

कम उम्र में माता-पिता को खोने और गरीबी के कारण, बकुलाबेन पटेल पढ़ाई और अपने बचपन के खेल-कूद के सपनों को पूरा नहीं कर पाईं। नौवीं कक्षा में ही उनकी शादी हो गई थी। इसलिए घर-गृहस्थी में ही व्यस्त हों गईं। मतलब, बकुला बेन पहले एक आम गृहिणी थीं। इसलिए जिंदगी में जब उनको मौका मिला तो खुद को रोक नहीं पाईं।

दर दरअसल, जब वो 58 साल की थीं, तब वो अपनी बेटी के बच्चों को स्विमिंग करवाने और स्पोर्ट्स के लिए लेकर जाती थीं। उसी समय उनके मन में विचार आया कि वो भी तैरना सीख सकती हैं। यह सोचकर ही उन्होंने स्विमिंग पूल में तैरना शुरू किया था। आज वे न सिर्फ स्विमिंग पूल में, बल्कि नदी में भी घंटों स्विमिंग करती रहती हैं। अपने इसी जज्बे से वे 16 देशों में स्विमिंग और एथलेटिक्स खेल प्रतियोगिताओं में पुरस्कार जीत चुकी हैं। बकुला बेन ने 68 की उम्र में भरतनाट्यम सीखना भी शुरू किया और 82 की उम्र में उन्होंने इसमें एमए डिग्री हासिल कर ली है। उनका लक्ष्य गिनीज वर्ल्ड रिकॉर्ड बनाना है। यह कहानी उनके लिए एक सीख है, जो उम्र को बाधा मानते हैं।

# समृद्धि की राह

**गाजा के गमगीन बच्चों को हंसना सिखाने वाला भाईः** घर से मस्जिद है बहुत दूर चलो यूं कर ले, किसी रोते हुए बच्चे को हंसाया जाए। शायर निदा फाजली से गाजा के अहमद अलगरजी की शायद ही कभी मुलाकात हुई होगी, लेकिन लगता है कि उन्हेंनि इन शब्दों को अपने जीवन में उतार लिया है। बम धमाकों से दहलती गाजा पट्टी में वह बच्चों में खुशी बांट रहे हैं, उन्हें जीने का गुर सिखा रहे हैं, डर से पार पाने की ताकत दे रहे हैं और दिमागी तौर पर उन्हें मजबूत बना रहे हैं। यह सब वह कर रहे हैं नृत्य के अपने हुनर और नर्सिंग की तालीम की मदद से। संभवत इसी कारण द गार्जियन उनमें 'द इंस्पाइरिग पीपुल' बनने की संभावनाए देख रहा है।

अहमद के लिए यहां तक पहुंचना आसान नहीं था। गाजा के ही अल-नुसीयत शरणार्थी शिविर में उनका बचपन बीता है। अपने भाई से ब्रेकडांस का ककहरा उन्होंने तब सीखा, जब वह 15 वर्ष के थे। उनके भाई सऊदी अरब में इस नृत्य से दिल लगा बैठे थे और वापस लौटने पर अपनी यह थाती उन्होंने अहमद को सौंप दी थी। अहमद ने भी खुशी-खुशी इसे सिर-माथे लगा लिया। कमरे में, गलियों में या जहां कहीं उन्हें जगह मिलती, वह नाचने लगते। इस जुनून ने उनके कई नए दोस्त बनाए, जो पराधीन गाजा में आजादी महसूस करने का रास्ता ढूंढ़ रहे थे। फिर क्या था? 2004 में कैप्स ब्रैकर्ज की नींव

रख दी गई। इसमें तब 10 के करीब डांसर थे। इस ग्रुप का मकसद साफ था- खुद को अभिव्यक्त करने, सांस्कृतिक रूढ़िवादिता का विरोध करने और उन तमाम बंधनों को तोड़ने के लिए नाचना, जिनसे वे खुद को बंधा महसूस करते हैं। अहमद को ब्रेकडांस से इतना प्यार हो गया कि नर्सिंग से स्नातक करने के बाद उन्होंने आगे पढ़ने की नहीं सोचा हालांकि, यही पढ़ाई बाद में उनकी हमराह बनेगी, ऐसा भी उन्होंने कहां सोचा होगा।

कोई भी संकीर्ण समाज ऐसी किसी शुरुआत को आसानी से स्वीकार नहीं करता। अहमद ने भी खूब ताने सुने, पर थाह जानते थे कि नृत्य से भी मंजिल पाई जा सकती है। यह गुरबत में जी रहे लोगों का गम बांटना चाहते थे। खुली जेल बन चुके गाजा को जीने का सलीका सिखाना चाहते थे। इसमें साल 2009 उनके लिए मील का पत्थर साबित हुआ। उनकी टीम को 'सेव द चिल्ड्रन' के साथ एक प्रोजेक्ट करने का मौका मिला, जो 'ऑपरेशन कास्ट लीड' के पीड़ित बच्चों को मनोवैज्ञानिक मदद पहुंचाने के लिए शुरू किया जाना था। संयुक्त राष्ट्र का कहना था कि साल 2008-09 में इजरायल द्वारा गाजा में किए गए इस सैन्य ऑपरेशन में 333 बच्चों सहित 1,383 फलस्तीनी मारे गए थे। अहमद समझ गए कि धमाकों से दहले बचपन को संभालना बड़ी चुनौती है।

उनका समूह नृत्य के माध्यम से फलस्तीनी समाज में मौजूद भेदभाव को मिटाने, उनमें एकता बढ़ाने, महिलाओं को अधिकार दिलाने के लिए आगरूकता फैलाने में जुट गया। गाजा पट्टी पर आयद इजरायली बंदिशों के खिलाफ भी अभियान चलाया जाने लगा। कहा जाता है कि इन्हीं सबसे चिढ़कर उनके

नृत्य-केंद्र को बम से उड़ा दिया गया, पर तब तक अहमद ने इतने प्रशंसक कमा लिए थे कि उनकी एक आवाज पर 10,000 डॉलर की रकम जुटा ली गई और साल 2012 में एक नया नृत्य-केंद्र बनकर खड़ा हो गया। गाजा में मुश्किलें बढ़ने के बाद अहमद 2015 में जर्मनी चले गए, पर उनका दिल मातृभूमि में ही अटका रहा। इसी कारण, वह वक्त-वक्त पर वापस लौटते और नई प्रतिभाओं को नृत्य सिखाया करते थे। अक्तूबर, 2023 में भी इसी मकसद से वह गाजा आए थे। । वहां युवा नर्तकों का एक शो था, मगर इजरायल पर हमास के हमले और तेल अवीव की जवाबी कार्रवाइयों ने उनकी योजनाओं को खाक कर दिया।

फर्ज कीजिए, आप कहीं जाते हैं और आपको पता चलता है कि अनिश्चितकालीन जंग में घिर जाने के कारण अब वहां से बाहर निकलना नामुमकिन है। ध्वंस भी इस कदर कि कौन-सी मिसाइल कहां धमाका कर जाए, कोई नहीं जानता। तब आप क्या करेंगे? अहमद के सामने भी यही सवाल था।

पांच दिन वह और उनके साथी एक शिविर में खुद को जिंदा रखने के लिए कैद रहे। मगर ज्यादा दिनों तक बैठे रहना अहमद को मंजूर नहीं था। वह इस तरह के हालात से पहले भी गुजर चुके थे। सो पहुंच गए संयुक्त राष्ट्र द्वारा चलाए जा रहे एक नजदीकी स्कूल में। वहां बच्चों के लिए कार्यशालाएं शुरू करने का प्रस्ताव रखा, जिसे मंजूरी मिल गई। शुरुआत में बच्चे झिझके जरूर, लेकिन जल्द ही अहमद और उनके साथियों के 'फ्लिप' और 'ट्वीस्ट' पर वे भी नाचने लगे। अब तो अहमद इन

बच्चों के 'भाई' हैं, हालांकि, उन्हें अपना शुरुआती नाम 'शार्क' यानी, उस्ताद ही पसंद है।

आज अहमद अल-नुसीरात शरणार्थी शिविर ही नहीं, उन तमाम इलाकों में जाते हैं, जहा गाजा नागरिक शरण लिए हुए हैं और बच्चों के लिए नृत्य करते हैं। वह और उनके दोस्त पूरी कोशिश करते हैं कि यहां के मासूमों में मासूमियत बची रहे। यहां तक कि नजदीक गिरे मिसाइल से अपने एक छात्र की मौत के बाद भी अहमद के कदम रुके नहीं हैं।

आखिर उन्हें डर क्यों नहीं लगता? एक साक्षात्कार में अहमद बताते हैं कि मैंने भी बचपन में यह सब देखा है। बम धमाके से कोई बच्चा कितना भयभीत हो जाता है, यह मैं जानता हूं। मैं नहीं चाहता कि हमारी नई पीढ़ी भी यही सब झेलती रहे। अब तो हर धमाके के बाद मैं खुद को कहीं अधिक मजबूत महसूस करता हूं।

अमेरिकी लेखक एच पी लवक्राफ्ट ने लिखा है, जिसका बचपन दुख और भय में बीतता है, वह जीवनभर खुश नहीं रह पाता है। गमगीन गाजा के मासूम बच्चों की खुशी भी आखिर क्यों बारूदी गर्द-गुबार में दफन हो? काश, गाजा के पास कई 'अहमद' होते !

**उनका क्या कसूर कि वे सलाखों के पीछे पलें:** शताब्दियों पहले दार्शनिकों ने यह स्थापना दी थी कि गुणों के एक तल पर मनुष्य ईश्वर के समतुल्य आ सकता है, और वह गुण है-करुणा! शायद यही कारण है कि सज्जन लोग अक्सर यह दोहराते रहते हैं- परमार्थियों के कारण ही यह दुनिया आकर्षक बनी हुई है, वरना फरेबी और मक्कार लोग तो इसे कब का

बदसूरत बना चुके होते। आज एक ऐसी ही परमार्थी महिला पुष्पा बस्नेत की कहानी, जिन्होंने अपने सद्कार्यों से न सिर्फ इंसानियत का सिर बुलंद किया है, बल्कि इस दुनिया को कुछ और सुंदर बनाया है।

आज से करीब चार दशक पहले काठमांडू (नेपाल) के एक कारोबारी घराने में पैदा हुई पुष्पा के पिता बेहद तरक्कीपसंद थे। अपने बेटे-बेटियों में उन्होंने कभी कोई भेदभाव नहीं किया। पुष्पा तीन भाई-बहन हैं। भाई उनसे बड़े हैं, और बहन छोटी। जाहिर है, उनका बचपन बेहद सुकून भरे स्नेहिल माहौल में गुजरा, मगर उनका दिल किताबों में बिल्कुल नहीं लगता था। खाना पकाना और साइकिल चलाना, उनकी रुचि के दो क्षेत्र थे। बहरहाल, किताबों, और कक्षाओं से भारी जंग लड़ते हुए वह दसवीं बोर्ड तक तो आ गई थीं, मगर इसके इम्तिहान को लेकर पुष्पा से ज्यादा घरवालों की धुकधुकी बढ़ी हुई थी। आखिरकार वही हुआ, जिसकी आशंका थी। जिस रोज बोर्ड के नतीजे आए, पिता को जापान जाना था। वह रोते हुए हवाई अड्डे की ओर बढ़े थे। माता-पिता कितने भी अमीर क्यों न हों, औलाद के मुस्तकबिल को लेकर वे हमेशा फिक्रमंद होते हैं। पिता के वे आंसू बेटी के दिल में जा गिरे थे। पुष्पा को अगली बोर्ड परीक्षा के लिए भले ही एक साल इंतजार करना पड़ा, मगर वह पिता के लिए मुस्कराने का मौका लेकर आईं।

शहर के सेंट जेवियर्स कॉलेज ने समाजशास्त्र में ग्रेजुएशन करने की अनुमति दे दी थी। रुचि का विषय था, तो पुष्पा का भी दिल लग गया। उस समय उनकी उम्र 21 साल थी। वह चाहतीं, तो एक सुकूनदेह जिंदगी का इंतिखाब कर

सकती थीं, मगर ख्यालों ने अचानक करवट मार दी। दरअसल, स्नातक करते हुए एक शैक्षिक कार्ययोजना के तहत पुष्पा कालीमाटी जेल पहुंचीं, जहां की महिला कैदियों के हालात पर उन्हें एक परचा तैयार करना था। मगर पुष्पा जब जेल के उस हिस्से में दाखिल हुई, तो वहां एक दुखद आश्चर्य उनका इंतजार कर रहा था। उनकी नजर एक नौ माह की बच्ची पर पड़ी, जो अपनी मां की गोद में सलाखों के उस पार थी। वह बेहद प्यारी बच्ची थी। उसकी कैदी मां से पुष्पा जब बातचीत कर रही थीं, उसी दौरान उसने पुष्पा की शॉल अपनी मुट्ठी में भींच ली और यूं मुस्कराई, मानो हजारों मोनालिसाएं एक साथ खिलखिला पड़ी हों।

वह अभिशापित दिलकश मुस्कान पुष्पा के साथ चली आई थी, बल्कि वह हमेशा के लिए उनकी आंखों में बस गई। कैदियों के साथ मासूम बच्चों को यूं सलाखों के पीछे देखना उन्हें हैरान और गमजदा कर गया था। उन पर पहली बार यह खुलासा हुआ कि जिन कैदी माता-पिता के अबोध बच्चों को बाहर संभालने वाला कोई न हो, उन्हें कानून यह इजाजत देता है कि वे आठ साल तक उन्हें अपने साथ जेल में ही रख सकते हैं। इस व्यवस्था का मकसद शायद उन मासूमों को अविश्वसनीय रिश्तेदारों के दुर्व्यवहार और मानव तस्करों से बचाना हो, मगर आठ साल के बाद? और फिर उनकी आजादी का क्या ? इस सामाजिक अध्ययन ने पुष्पा को कई दिनों तक बेचैन रखा। उसी दौरान एक पांच साल की बच्ची की दर्दनाक कहानी जब उन्हें पता चली, तब उनसे रहा नहीं गया। उन्होने तय किया कि वह इन बच्चों के लिए कुछ न कुछ जरूर करेंगी।

दरअसल, उस बदनसीब बच्ची को पिता ने ही हवस का शिकार बना डाला था. क्योंकि उसकी मां किसी अन्य पुरुष के साथ भाग गई थी।

आजाद फिजां में कैदियों के बच्चों की परवरिश का ख्याल जब पुष्पा ने अपने दोस्तों-रिश्तेदारों से साझा किया, तो किसी ने उन्हें गंभीरता से नहीं लिया। सबको यही लगा कि ये वक्ती जज्बात हैं, जो कुछ दिनों में शांत पड़ जाएंगे। आखिर तब उनकी उम्र ही क्या थी ! 21 साल। मगर सींखचों के उस पार पड़े बेगुनाह बच्चों की दुखद अवस्था ने पुष्पा के मन पर गहरा असर डाला था। उस जेल अध्ययन के दो महीने के अंदर उन्होंने अपने दोस्तों-रिश्तेदारों से सत्तर हजार रुपये इकट्ठा कर किराये के घर से 'अर्ली चाइल्डहुड डेवलपमेंट सेंटर' की शुरुआत कर दी।

अपने माता-पिता को कायल करने में तो पुष्पा को कोई दिक्कत नहीं हुई, पर कैदी अभिभावकों को भरोसे में लेना बहुत कठिन था। मगर इरादे पवित्र थे, तो बाधाओं को भी पिघलना ही था। आखिरकार पांच बच्चों के साथ उनका केंद्र शुरू हो गया। सोमवार से शनिवार तक वह रोज सुबह उन बच्चों को जेल से निकालकर अपने सेंटर ले आतीं और फिर दोपहर में उनके कैदी अभिभावकों को सौंप जातीं। धीरे-धीरे बच्चों की संख्या चालीस के करीब पहुंच गई। उनमें से कई ने तो पहली बार जेल के बाहर कदम रखा था।

पुष्पा आठ साल से बड़े बच्चों के लिए एक मुकम्मल आवासीय परिसर बनाना चाहती थीं, ताकि वे आजाद माहौल में पल-संवर सकें। साल 2012 में 'सीएनएन हीरो अवॉर्ड' के साथ मिली करीब 41 लाख रुपये की रकम ने उनका यह सपना भी पूरा कर दिया। इस धन से उन्होंने जमीन खरीदी और

बटरफ्लाई होम का निर्माण कराया। उसके बाद से उन्हें करोड़ों के इनाम मिले, जिनसे उन्होंने ग्रामीण जेलों के करीब भी 'अर्ली चाइल्डहुड डेवलपमेंट सेंटर' की शुरुआत की। इनके कई बच्चे अब कॉलेज पहुंच गए हैं। वे सब प्यार से पुष्पा को 'मामू' पुकारते हैं, और नेपाल अपनी इस बेटी पर गदगद है। पुष्पा ने इन बच्चों को अपना जीवन समर्पित कर दिया है।

**ऊंची तालीम के साथ इंसानियत तलाशती एक अमेरिकी:** दुनिया में क्या कोई ऐसा इंसान होगा, जिसके हिस्से में गम न आए हों या जिसे कभी कोई पीड़ा न पहुंची हो? ऐसा होना नामुमकिन है, क्योंकि यह मनुष्य मात्र की नियति है। वह सुख-दुख से आबद्ध है। मगर सच यह भी है कि जो लोग भाग्यवादी बनने के बजाय कर्मवादी बनते हैं, वही बदलाव के वाहक बनते हैं। यासमीन एलेक्जेंड्रा एरिंगटन उन विरले लोगों में से हैं, जिन्होंने इस दुनिया को कुछ और बेहतर, कुछ और ज्यादा मानवीय बनाने का बीड़ा उठाया है। अमेरिकी समाज उनकी इस भूमिका को सराह भी रहा है। विश्व की प्रतिष्ठित मीडिया कंपनी सीएनएन ने उन्हें साल 2023 के 'हीरो' सम्मान के लिए नामित किया है।

आज से करीब 30 साल पहले वाशिंगटन डीसी में यास्मीन पैदा हुई। होश संभालते ही पता चला कि पिता टोनी रे एरिंगटन जेल में हैं। उनके बाहर आने और फिर से सलाखों के पीछे भेजे जाने का सिलसिला पुराना है। नन्ही यासमीन को तो पिता की शक्ल भी याद नहीं थी। टोनी का ज्यादातर वक्त चोरी और इसी तरह के अन्य अपराधों की सजा काटने में सलाखों के पीछे बीता। मगर यासमीन तब क्या समझ पातीं

कि चोरों की संतानों को समाज कैसी नजरों से देखता है? जिस उम्र में बच्चों के सुपर हीरो उनके माता-पिता होते हैं, उस आयु में यासमीन की आंखों ने ऐसा कोई ख्वाब देखा ही नहीं। मगर जैसे-जैसे वह बड़ी होती गईं, उपेक्षा भरी या तरस खाती निगाहों की तीक्ष्णता उन्हें अंदर तक वेधती रही।

जेल से पिता के इस रिश्ते ने परिजनों की जिंदगी को बेहद मुश्किल बना दिया था। घर की माली हालत खराब हुई, तो यासमीन की मां अपने बच्चों को लेकर अपनी मां वेरोनिका राइट के पास चली आईं। वे सब बिखरी हुई जिंदगी जी रहे थे। मां को पेट की गंभीर बीमारी थी और उस पर बच्चों के भविष्य की चिंता ने उन्हें गहरे अवसाद में धकेल दिया। यासमीन अपने छोटे भाइयों के साथ उन्हें बस दर्द से तड़पते या अवसाद में देखा करती थीं। तब वह महज आठ साल की थीं। पेट दर्द से राहत पाने के लिए यासमीन की मां ने दर्द निवारक गोलियों की ऐसी लत पाल ली कि एक वक्त डॉक्टर ने साफ कह दिया, अब उनके उपचार का एकमात्र रास्ता ऑपरेशन है। ऑपरेशन हुआ भी, मगर कुछ वर्षों बाद ही नई समस्याएं पैदा हो गई और यासमीन जब अपने हाईस्कूल के प्रथम वर्ष में थीं, उनकी मां ने दुनिया को अलविदा कह दिया। यासमीन तब पंद्रह साल की थीं। उन्हें लगता कि पिता होते, तो नानी वेरोनिका समेत उन सबका ख्याल रखते, मगर वह चार साल की उम्र में जो छोड़ गए, तो फिर पलटकर नहीं आए। प्यार व स्नेह की भूखी यासमीन की मुलाकात उन्हीं दिनों एलोन यूनिवर्सिटी के टीनो मोनरो से हुई। वह भी फर्स्ट ईयर के छात्र थे। उनकी दोस्ती अंततः प्यार में तब्दील हो गई। दोनों ने अपने-अपने विषय में इसी यूनिवर्सिटी से स्नातक किया।

मगर यासमीन के भीतर पिता को लेकर एक कसक बनी रही कि वह मिलते, तो पूछती कि उन्हें ऐसा बचपन क्यों गुजारना पड़ा ? इसका संयोग बना भी। टोनी एरिंगटन जॉर्जिया जेल से रिहाई के बाद एलोन यूनिवर्सिटी के करीबी रेस्तरां में रसोइए का काम कर रहे थे। जब पिता और बेटी का आमना- सामना हुआ, तो मिनटों तक दोनों एक-दूसरे को पहचानने की ही कोशिश करते रह गए। पिता की नजरें चार साल की अपनी गुड़िया को तलाश रही थीं, जो अब युवा हो चली थी, तो वहीं पिता से मिलने के आह्लाद में बेटी अपना सवाल पूछना भी भूल गई। यासमीन को तो बस इस बात का इत्मीनान था कि उनके पिता सामने हैं, वह उनसे बातें कर सकती हैं।

किसी पुराने जुर्म की सजा में पिता फिर जेल भेज दिए गए, पर यासमीन उनसे नाराज नहीं हुई। उन्होंने उन्हें माफ कर दिया था। वह पिता से फोन से बातें करती रहीं, बल्कि स्नातक की डिग्री लेते हुए उन्होंने यह सुनिश्चित किया कि पिता उस वक्त मौजूद रहें, ताकि यह उन्हें खुशी और गौरव के कुछ पल दे सके। हाईस्कूल में दाखिला लेते समय कैदी पिता की संतान होने के कारण यासमीन को जिन आर्थिक मुश्किलों का सामना करना पड़ा था, उसने उनके भीतर एक गहरी टीस पैदा की थी। फिर जब यह पता चला कि उनकी ही तरह अमेरिका में बीस लाख किशोर-नौजवान है, जिनके माता- पिता जेल में हैं, तब यासमीन ने इस कलंक और शर्मिंदगी को ढो रहे छात्रों की मदद करने का फैसला किया।

अक्टूबर 2010 की बात है। उस समय यासमीन बमुश्किल 17 साल की रही होंगी। यह वह उम्र थी, जब उन्हें आगे की अपनी पढ़ाई मुकम्मल करनी थी और एक अच्छे करियर का रास्ता तलाशना था, उन्होंने समान स्थिति बाले विद्यार्थियों के लिए 'स्कॉलरचिप्स' नामक एक गैर-लाभकारी संस्था की शुरुआत की। उनकी इस पहल ने कई उद्यमियों, दानदाताओं, पत्रकारों को आकर्षित किया। साल 2012 से अब तक यासमीन को अनगिनत पुरस्कार मिले हैं, जिनमें मिली धनराशि उन्होने इस संस्था को दे दिए। स्कॉलरचिप्स के जरिये यह अब तक अस्सी से ज्यादा छात्रों को वजीफे के तौर पर करीब चार करोड़ रुपये की सहायता कर चुकी हैं। एक पेशेवर मॉडल व प्रेरक वक्ता के रूप में यासमीन अमेरिका और उसके बाहर घूम-घूमकर लोगों का आह्वान करती हैं कि अभिभावकों के किए की सजा बच्चों को मत दीजिए। उन्हें हिकारत की नहीं, सामाजिक प्रोत्साहन की दरकार है। आज ही सीएनएन की जूरी इस साल के हीरो की घोषणा करेगी। यासमीन विजेता बनीं, तो उन्हें इनाम में एक लाख डॉलर की राशि मिलेगी। नामित होते ही वह पंचास हजार डॉलर की हकदार हो चुकी हैं। जाहिर है, यह धन भी उनके बड़े मकसद के लिए होगा। बकौल यासमीन, जीवन में अच्छे करियर के लिए यूनिवर्सिटी की डिग्री चाहिए, मगर इंसान होने की सार्थकता इससे कुछ और ज्यादा मांगती है।

**रास्ते का मास्टर बना हजारों का मसीहा:** समाज में बदलाव लाने के लिए आपको क्या चाहिए? सत्ता, धन या

समूह ? क्या इनके बगैर भी ऐसा सुधार मुमकिन है, जो हजारों लोगों की जिंदगी में खुशियां ला सके? किसी परिवर्तन की पहल के लिए जो पहली और शायद सबसे बड़ी जरूरत होती है, वह है इच्छाशक्ति। दीप नारायण नायक इसकी ताजा मिसाल हैं। पश्चिम बंगाल के एक पिछड़े इलाके के दीप आज दुनिया की निगाहों में नायक बनकर उभरे हैं, तो यह सिर्फ उनकी इच्छाशक्ति का कमाल है। इसी की बदौलत वह इस वर्ष के विश्व के दस श्रेष्ठ शिक्षकों में शुमार किए गए हैं। पश्चिम बंगाल में आसनसोल शहर के करीब बसे, नंदीगांव में आज से 37 साल पहले दीप पैदा हुए। परिवार बड़ा था। उनसे पहले चार बहनें जन्म ले चुकी थीं। घर की आर्थिक हालत क्या रही होगी, इसका अंदाजा बस इसी एक तथ्य से लगा लीजिए कि उन भाई-बहनों को स्कूल की पोशाक भी किसी की उतरन ही मिली। मां पैबंद लगा लगाकर एक के बाद दूसरी संतान को वही पहनाती रहीं, किताबें तो खैर कभी नई आई ही नहीं। मगर इस सबसे दीप के भीतर पढ़ाई-लिखाई को लेकर कभी कोई उदासीनता नहीं आई।

दादा-दादी समेत नौ सदस्यों वाले इस कुनबे के भरण-पोषण की जिम्मेदारी अकेले दीप के पिता पर थी। उन्होंने कई तरह की नौकरियां कीं, मगर बढ़ते-पढ़ते बच्चों की जरूरतें पूरी ही नहीं हो पाती थीं। ऐसे में, गरीब परिवार जिस चीज से पहला समझौता करते हैं, दीप के परिवार ने भी वही किया। उनकी चारों बड़ी बहनों को आठवीं के बाद पढ़ाई छोड़नी पड़ी। गरीबी लैंगिक स्तर पर भी इंसान को मारती है, और हर बार लड़कियों और औरतों को ही ज्यादा बड़ी कुर्बानी देनी पड़ती है।

पारंपरिक समाज अब भी बेटे के मोह से कहां मुक्त हो सका है? दीप से पहले चार लड़कियों की पैदाइश इसी विडंबना को उद्घाटित करती है!

धनाभाव के कारण बहनों के स्कूल छूट जाने की पीड़ा अंदर कुछ यूं आ जमी कि दीप ने छुटपन में ही तय कर लिया कि जब कभी सक्षम हुए, तो वह अपने जैसे गरीब बच्चों, खासकर लड़कियों की पढ़ाई में मदद जरूर करेंगे। दीप के घर में बिजली नहीं थी, इसलिए शाम ढलने से पहले ही पढ़ाई करने की मजबूरी थी। दसवीं पास करने के बाद उन्होंने सोचा कि उन्हें भी अब बड़ी बहनों की तरह पढ़ाई छोड़ कुछ काम करना चाहिए, ताकि पिता की थोड़ी-बहुत मदद हो सके। मगर दसवीं में दीप के अंक इतने शानदार थे कि एक सज्जन ने उन्हें काफी प्रेरित किया कि यह अपनी पढ़ाई जारी रखें।

दीप की अपनी इच्छा तो थी ही, फिर बोर्ड की परीक्षा पास करने वाले वह अपने गांव के पहले विद्यार्थी थे। उनके प्रति स्नेह रखने वाले उस सज्जन ने उन्हें किताबें मुहैया कराते हुए कहा कि किसी तरह 12वीं बोर्ड तक पढ़ाई जरूर करें। दीप को उन्हें वे किताबें सही-सलामत लौटानी भी थीं। उन्होंने अपनी पढ़ाई का खर्च जुटाने के लिए छोटे बच्चों को ट्यूशन पढ़ाना शुरू कर दिया। दीनता-विपन्नता से जूझते हुए दीप ने वनस्पति विज्ञान में स्नातक की डिग्री हासिल की। आगे की शिक्षा का भार वहन करना संभव न था। लिहाजा, दीप को पढ़ाई छोड़नी पड़ी। फिर उन्होंने टीचर ट्रेनिंग की और संयोग से एक प्राथमिक स्कूल में उन्हें शिक्षक की नौकरी मिल गई।

दीप की जिंदगी का यह बेहद अहम पड़ाव था, क्योंकि वह पिता और परिवार की आर्थिक मदद करने में ही सक्षम नहीं हो गए थे, बल्कि दूसरे लोगों, खासकर बच्चों की सहायता करने

में भी अब समर्थ थे। अपने स्कूल के कुछ गरीब बच्चों को वह स्लेट, कॉपी-किताबें, पेंसिल-पेन मुहैया कराने लगे। इस कार्य ने दीप के अंदर आत्म-संतोष का ऐसा दीपक प्रज्ज्वलित किया, जिसकी आभा कभी मंद नहीं पड़ी, बल्कि दिनोंदिन बढ़ती ही गई। मदद चाहने बाले बच्चों की संख्या बढ़ती गई और दीप का हाथ भी खुलता गया। ये सारे वे बच्चे थे, जो रद्दी में बिकने वाली किताबों के सहारे ही पढ़ पा रहे थे। उनके हाथों में जब नई-चकमक किताबें आतीं, तो उनकी आंखों की चमक देख दीप का बचपन हुलस उठता था।

मगर दीप की जेब की भी एक सीमा थी। आखिर वह कितने बच्चों के लिए में किताबें कॉपियां खरीद सकते थे? इसी चिंता में दीप के दिमाग में एक विचार कौंधा कि क्यों न गांव के घरों की दीवारों को ही ब्लैक बोर्ड बना दिया जाए ? उन्होंने रास्ते के दोनों तरफ की दीवारों को ब्लैक बोर्ड बना दिया और उसी पर बच्चों को पढ़ाना शुरू कर दिया। उनका एक ही लक्ष्य था कि कोई बच्चा गरीबी के कारण अशिक्षित न रखा जाए। फिर उन्होंने उन बच्चों से कहा कि ये अपने माता- पिता, दादा-दादी को लिखना पढ़ना सिखाएं। गांव के लोग दीप को 'रास्तेर मास्टर' यानी रास्ते का शिक्षक पुकारने लगे थे। जो अभिभावक खुले में बने इन ब्लैक-बोर्डों पर पढ़ने से हिचक रहे थे, दीप ने उनके घर के दरवाजे पर ही पेंट की मदद से ऐसे बोर्ड बनाए और उन घरों के बच्चो को टास्क दिया कि वे अपने बड़े-बुजुर्गों को पढ़ाएं।

तीन पीढ़ियां एक साथ पढ़ने लगी थीं। दीप ने इसे 'थ्री-जी मॉडल' कहा। यह क्रांतिकारी विचार साबित हुआ, क्योंकि

शिक्षा की अहमियत एक साथ तीन-तीन पीढ़ियों में प्रवाहित होने लगी थी। आलम यह था कि इस खुले स्कूल में पढ़ने वाले बच्चे न्यूनतम दसवीं कक्षा तक अपनी पढ़ाई जारी रखने लगे। यहां तक कि अनेक लड़कियों ने शादी के बाद भी पढ़ना नहीं छोड़ा। देखते-देखते दीप का यह अनूठा तरीका कई जिलों में फैल गया। उनकी कोशिशों की बदौलत आज कई गरीब बच्चे इंजीनियरिंग, नर्सिंग और कला विषयों में ऊंची डिग्रियां ले रहे हैं। अब तक सात जिलों के करीब 10,000 गरीब बच्चों पर रास्ते के इस मास्टर ने अपनी अमिट छाप छोड़ी है। यूएन ने भी इसे सराहा है। गरीबों की तीन पीढ़ियों में यह कितना शानदार बदलाव है!

**कश्मीर की तकदीर ऐसे उमर ही संवारेंगे:** सफलता की कुछ कहानियां वाकई बहुत प्रेरणादायी होती हैं। कहने को तो वे किसी एक अदद इंसान के जीवट, संघर्ष-त्याग और उपलब्धियों की दास्तान होती हैं, मगर दर-हकीकत वे एक पूरे खित्ते की उम्मीदों की नुमाइंदगी करने लगती हैं। उमर अहमद गनी का जिंदगीनामा कुछ ऐसा ही है। कश्मीर के जिस जिले से उनका ताल्लुक है, उसका नाम अक्सर दहशतगर्दों की हिमाकतों के लिए सुर्खियों में आता है। ऐसे में, वहां का एक बेहद गरीब नौजवान अगर हिन्दुस्तान के किसी बड़े इम्तिहान में अपनी कामयाबी के परचम लहराता है, तो यह मामूली बात नहीं है। जीना इसी को तो कहते हैं।

दक्षिण कश्मीर के पुलवामा जिले में एक गांव है जागीगाम। आज से करीब 20 साल पहले इसी गांव के एक मजदूर परिवार में उमर पैदा हुए। गौर कीजिए, उमर की पैदाइश के बाद के अगले डेढ़ दशक तक उस इलाके के क्या

हालात थे ? कितने मासूम हाथों में किताब-कॉपियों की जगह पत्थर थमा दिए गए थे। मुफलिसी के मारे मासूमों को गुमराह करने के लिए पत्थरबाजी के एवज में पैसे का लोभ दिया जाता था, मगर उमर के खुद्दार माता-पिता ने अपने बच्चों को हमेशा ऐसे प्रलोभनों से दूर रखा। मजदूर पिता की हसरत यही थी कि वह तो न पढ़ सके, मगर उनके बच्चे जरूर पढ़ें। मगर वह दोनों नन्हे बेटों को सेब के मौसम में अपने साथ मजदूरी पर ले जाते, ताकि किताबी ककहरे के साथ-साथ वे असली जिंदगी का इल्म भी हासिल करते रहें।

पांच लोगों का कुनबा था। सबके भरण-पोषण की खातिर हाड़तोड़ मजदूरी ने उमर के पिता को पचास पार करते ही बुरी तरह थका दिया था। लिहाजा बड़े बेटे ने 12वीं के बाद पिता का बोझ बांटने का फैसला किया। फिर आगे की तालीम के लिए शहर जाना पड़ता और परिवार में उसका खर्च उठाने की कुव्वत भी कहां थी ? घर में सबसे छोटा होने के कारण उमर को सबका स्नेह तो मिलता रहा, मगर स्नेह से पेट कहां भरता है? तीसरी जमात से ही गरीबी ने उन्हें भी सेब के बागों में पहुंचा दिया था। सरकारी स्कूल के मास्टर उनसे कभी दरयाफ्त भी नहीं करते कि स्कूल क्यों नहीं आए? क्योंकि इम्तिहान के नतीजे उन्हें इसका मौका ही नहीं देते। दरअसल, उमर की पढ़ाई-लिखाई में शुरू से गहरी दिलचस्पी थी। शाम छह बजे जब वह बाग से घंटों सेब तोड़कर या दरख्तों की 'कैंची' करके लौटते, तो उसके बाद देर रात तक पढ़ते रहते।

इस सिलसिले का सुखद नतीजा भी जमात-दर-जमात सामने आता रहा। चूंकि सबसे बड़ी बहन पढ़ने में काफी अच्छी थीं, तो जब कभी भी उमर को कुछ समझ में नहीं आता, वह

हमेशा अपनी बहन से उसे समझ लिया करते। दसवीं तक यही सिलसिला रहा। मजदूरी और पढ़ाई के बीच तालमेल साधते हुए उमर ने दसवीं की बोर्ड परीक्षा लगभग 80 फीसदी अंकों के साथ पास की। सब बहुत खुश थे। ठीक इसी समय पुलवामा के एक छात्र ने मेडिकल परीक्षा (एनईईटी) में कामयाबी हासिल करके खूब सुर्खियां बटोरी थीं। उमर की आंखों में भी डॉक्टर बनने का सपना आ बसा। लिहाजा, ग्यारहवीं में विज्ञान विषयों का चयन तय ही था।

मगर गांव के सरकारी स्कूल में पढ़े-लिखे उमर के लिए 'नीट' में कामयाबी हासिल करना आसान नहीं था। न तो उनके पास कोई मोबाइल फोन था, जिससे वह कुछ ऑनलाइन दिशा-निर्देश हासिल कर पाते और न ही इस परीक्षा का अनुभव रखने वाले किसी व्यक्ति को वह जानते थे, जो बता पाता कि क्या-क्या पढ़ना होगा और इसके लिए किस तरह की तैयारी दरकार होगी। बेचैनी के इसी आलम में किसी ने उमर को बताया कि पुलवामा में एक संस्थान है, जो इसकी कोचिंग कराता है। उमर ने दो माह तक जी तोड़ मेहनत की। घरों की पुताई करने से लेकर निर्माण स्थलों पर सीमेंट ढोने तक हाथ आए किसी काम को उन्होंने जाने नहीं दिया और करीब 15 हजार रुपये जोड़ लिए। उमर बहुत खुश थे। मगर जब वह पुलवामा पहुंचे, तो संस्थान ने 30 हजार से कम फीस में दाखिला देने से साफ इनकार कर दिया। चार-पांच दिनों तक उमर प्रबंधकों से चिरौरी करते रहे, मगर वे घाघ तिजारती लोग थे, उन्हें उमर की पृष्ठभूमि, उनके सपनों से कोई मतलब न था। आखिरकार कोचिंग का ख्याल छोड़ना पड़ा। मगर कहते हैं, ऊपरवाला जब एक दरवाजा बंद करता है, तो कई खोल भी

देता है। मायूसी के उन्हीं दिनों में उमर को पता चला कि गांव के एक संपन्न परिवार के लड़के ने इस परीक्षा की तैयारी की थी, हालांकि वह कामयाब न हो सका था।

उमर बगैर वक्त गंवाए उस छात्र के पास पहुंच गए। उसने न सिर्फ अपनी किताबें उन्हें दीं, बल्कि ऑनलाइन सामग्रियों के बारे में भी काफी कुछ बताया। मगर मोबाइल के लिए उमर को दिवाली तक इंतजार करना पड़ा, ताकि 'फेस्टिवल ऑफर' के तहत कुछ रियायती दर पर मोबाइल लिया जा सके। 'बायोलॉजी' और 'केमिस्ट्री' में तो बहुत परेशानी नहीं आई, मगर 'फिजिक्स' के लिए उमर ने ऑनलाइन कोचिंग की। इसी दौरान 12वीं में आए शानदार 95 प्रतिशत अंकों ने हौसला दिया कि सपने अब पूरे होने को हैं। नीट- 2023 के कामयाब छात्रों में उमर अहमद गनी भी थे, जिन्होंने अपने पहले प्रयास में ही सफलता हासिल की।

जाहिर है, पुलवामा के आहत मन पर उमर ने अपनी इस सफलता से राहत के फाहे रखे हैं। नीट रिजल्ट के बाद उनके घर पर बधाई देने वालों का तांता लगना ही था। मगर उमर की अगली चिंता मेडिकल कॉलेज फीस थी। ऐसे में, उमर की मदद के लिए स्टार्ट-अप 'फिजिक्सवाला' सामने आया। उसने न सिर्फ उन्हें कश्मीर खित्ते में अपना ब्रांड एंबेसडर बनाया, बल्कि उनकी कॉलेज फीस व खर्च के लिए 10 लाख रुपये देने की भी घोषणा की। पुलवामा व कश्मीर ही नहीं, पूरे हिन्दुस्तान को उमर गनी पर नाज करना चाहिए।

## गुजरांवाला की एक दास्तां जो पेरिस में पढ़ी गई:

कहते हैं, इस दुनिया को अगर वाकई एक परिवार बनना है, तो यह काम सिर्फ अच्छे शिक्षक कर सकते हैं, क्योंकि राजनेताओं और धर्मगुरुओं की पूरी सत्ता ही इंसान-इंसान में फर्क पैदा करने से कायम है। इसलिए इस संसार को हमेशा सिस्टर जेफ की तरह दर्दमंद शिक्षकों की जरूरत रहेगी, ताकि अज्ञानता का अंधेरा छंटता रहे; धर्म और नस्ल की बाड़ेबंदियां टूटती रहें और उसे बेहतर इंसान मिलते रहें। यूनेस्को के मुख्यालय पेरिस में नवम्बर 2023 में पाकिस्तानी शिक्षिका सिस्टर जेफ को' ग्लोबल टीचरप्राइज' से नवाजा गया। उनके सम्मान में आयोजित रात्रिभोज में जेफ के जज्बे को सलाम करने फ्रांसीसी राष्ट्रपति इमैनुएल मैक्रों और न्यूजीलैंड की पूर्व प्रधानमंत्री जेसिंडा ऑर्डर्न जैसी हस्तियां भी पहुंचीं।

पाकिस्तान का बहुत पुराना शहर है गुजरांवाला। लाहौर से करीब 70 किलोमीटर उत्तर में बसे इसी शहर के बाहरी इलाके में स्थित अरूप गांव के एक ईसाई परिवार में सिस्टर जेफ पैदा हुई। चलन के मुताविक, उनका नाम रिफत आरिफ रखा गया। मगर नाम रखने से क्या होता है? इससे किसी अल्पसंख्यक की किस्मत पाकिस्तान में कहां बदल जाती है? इसलिए पढ़ने-लिखने में जहीन होने के बावजूद रिफत अपने सहपाठियों के भेदभाव का निशाना बनती रहीं। कई बार बदसलूकी की हद तक। मगर माता-पिता की हौसला अफजाई रिफत के आहत बालमन पर पुरअसर मरहम रख देती, और वह खुशी-खुशी अगले दिन स्कूल पहुंच जातीं।

उनके पिता मजदूर थे। एक मजदूर पिता के लिए चार-चार बेटियों की परवरिश बहुत बड़ी चुनौती थी, उस पर एक सड़क दुर्घटना ने उन्हें जब लंबे समय के लिए बिस्तर पर डाल दिया, तब मां के पास मजदूरी करने के अलावा कोई चारा न बचा। फिर भी खर्च पूरे नहीं हो पाते थे। आखिरकार रिफत को भी बाल मजदूरी करनी पड़ी। मगर किताबों का दामन उन्होंने तब भी नहीं छोड़ा। रिफत का बचपन से सपना था कि ऊंची तालीम हासिल करके वह नामी वकील बनेंगी। इसलिए खुद से पढ़ने का अनुशासन अपना लिया।

साल 1997 की बात है। तेरह साल की रिफत तब सातवीं जमात में थीं। एक दिन किसी शरारत के लिए स्कूल शिक्षक ने सबके सामने उन्हें बुरी तरह पीटा, बल्कि उनके लिए ऐसे अल्फाज इस्तेमाल किए, जो शारीरिक पीड़ा से ज्यादा उनके मन को छलनी कर गए। रिफत ने उसी दिन कसम खा ली कि अब वह कभी किसी स्कूल में नहीं जाएंगी, बल्कि अपना स्कूल बनाएंगी, एक ऐसा स्कूल, जिसमें किसी धर्म के गरीब बच्चे से कोई भेदभाव न हो. और बच्चों को कभी पीटा न जाए। घर के एक खुले हिस्से में ही रिफत ने इसकी शुरुआत की और उनकी पहली शागिर्द बनीं छोटी बहन।

क्या जज्बा रहा होगा। तेरह साल की लड़की, जिसे अपने घर की माली मदद के लिए बाल मजदूरी करनी पड़ी हो, अपनी पढ़ाई के साथ-साथ गांव-इलाके के गरीब बच्चों को पढ़ाने के सपने संजोने में जुट गई। गांव के गरीब घरों में जा-जाकर रिफत ने बच्चों, खासकर लड़कियों के माता-पिता को कायल किया कि वे उन्हें उनके पास पढ़ने के लिए भेजें। देखते-देखते दर्जनों बच्चे आने लगे। जब वह खुद नौवीं कक्षा में थीं,

करीब पचास बच्चे उनके स्कूल में आने लगे थे। रिफत ने कशीदाकारी सीखी, ताकि नौकरी करके वह घर और स्कूल चला सकें। इसी उम्र में उन्होंने अपनी पहली नौकरी की, जिसके लिए उन्हें 600 रुपये महीने की तनख्वाह मिलती थी। अगले एक दशक से ज्यादा यह सिलसिला चलता रहा। रिफत की नौकरियां जरूर बदलीं, मगर बच्चियों को मुफ्त पढ़ाने का उनका इरादा नहीं बदला, बल्कि और पुख्ता होता गया। आठ घंटे की नौकरी और चार घंटे बच्चों को पढ़ाते हुए भी उन्होंने खुद न सिर्फ अच्छे अंकों से बोर्ड की परीक्षा पास की, बल्कि पंजाब यूनिवर्सिटी से राजनीतिशास्त्र व इतिहास में एमए की डिग्रियां भी उनकी काबिलियत से नत्थी हुईं। रिफत के हालात कितने प्रतिकूल थे, इसका अंदाजा सिर्फ इसी बात से लगाया जा सकता है कि भूख लगने पर भी वह बच्चों के सामने कुछ नहीं खाती थीं, क्योंकि कई बच्चे भी भूखे होते और वह उन सबको रोज नहीं खिला सकती थीं।

साल 2008 में जब इंटरनेट के जरिये उन्होंने अपनी कहानी लोगों से साझा की, तो कई लोग उनकी मदद के लिए आगे आए। मगर उन्हें सबसे बड़ा प्रोत्साहन 2013 में मिला, जब एक वैश्विक प्रतियोगिता में रिफत को करीब 55 लाख पाकिस्तानी रुपये का पुरस्कार मिला। इस रकम से उन्होंने गुजरांवाला के बाहरी इलाके में एक स्कूल और महिलाओं के लिए व्यावसायिक प्रशिक्षण केंद्र खोला। उस प्रशिक्षण केंद्र में हस्तशिल्प और ब्यूटीशियन आदि की ट्रेनिंग दी जाती है, ताकि बच्चियां व महिलाएं अपने पैरों पर खड़ी हो सकें। इस शिक्षण-प्रशिक्षण केंद्र में आने वाले सभी लोगों को, चाहे वे नर्सरी कक्षा

के बच्चे हों या फिर प्रशिक्षण केंद्र की महिलाएं, सहायिकाएं, कंप्यूटर चलाने की तालीम लाजिमी तौर पर लेनी पड़ती है, ताकि वे इंटरनेट की मदद से आधुनिक दौर के साथ कदमताल कर सकें। रिफत का कारवां बढ़ निकला।

रिफत अब पूरे पाकिस्तान में सिस्टर जेफ के नाम से मकबूल हैं। उनके संस्थान 'जेफनियाह वुमेन्स एजुकेशन ऐंड इम्पॉवरमेंट फाउंडेशन' के कई ब्रांच खुल चुके हैं, जिनमें आस-पास के करीब एक दर्जन गांवों की गरीब-उपेक्षित लड़कियां और महिलाएं निःशुल्क शिक्षा व प्रशिक्षण का लाभ उठा रही हैं। 'ग्लोबल टीचर प्राइज' के तहत अगले दस वर्षों में जेफ को जो 27 करोड़ रुपये (पाकिस्तानी) से अधिक की रकम मिलेगी, उससे यकीनन हजारों बच्चियों को निःशुल्क शिक्षा मिल सकेगी। बकौल सिस्टर जेफ, 'जब तक पाकिस्तान की आधी आबादी (स्त्रियां) तालीमयाफ्ता नहीं होगी, तब तक यह तरक्कीयाफ्ता मुल्क नहीं बन सकेगा।'

**पिता की अंतिम इच्छा पूरी इंसानियत का हक अदाः** इन कंपकंपाती सर्द रातों में गरमागरम भोजन के बाद जब हम अपने लिहाफ में घुसते हैं, तब कितनी बार हमारे ख्यालों में यह आता है कि न जाने कितने सारे देशवासी भूखे पेट, फटे- अधूरे कपड़ों में अपनी जान की पनाह मांगते बाहर भटक रहे होंगे? अगर ख्याल आया, तो समर्थ होते हुए भी हमने इंसानियत की क्या खिदमत की ? राकेश पंचाल जैसे लोग इन सवालों के जवाब है, मगर अफसोस । ऐसे जवाब बहुत कम हैं।

आज से करीब 44 साल पहले गुजरात के वसो गांव में पैदा हुए राकेश के पिता मनुभाई पंचाल का निर्माण सामग्रियों का एक छोटा-सा कारोबार था। पिता और काका के संयुक्त परिवार की सारी जरूरतें उसी एक बिजनेस से पूरी होती थीं। लिहाजा कारोबार का तनाव अक्सर घर तक चला आता। राकेश और उनसे दो साल बड़े भाई का बचपन इसी तनावपूर्ण माहौल में तमाम तरह के समझौतों के बीच गुजरा। गांव के सरकारी स्कूल में ही राकेश की पढ़ाई हुई। यह गुजराती माध्यम का स्कूल था। राकेश पढ़ने में काफी अच्छे थे और सेवाभावी पिता व बड़े भाई ने हमेशा उनका हौसला बढ़ाया। किशोरावस्था में राकेश को जो-जो पेशा आकर्षित करता, वह उसे अपनी कॉपी में दर्ज कर लिया करते। वैज्ञानिक से अदाकार और इंजीनियर से पत्रकार बनने तक उनके सपनों ने कई उड़ाने भरी। मगर आस-पास कोई ऐसा न था, जो उनमें से किसी एक की गहराई से उनको वाकिफ करा पाता। 12वीं में गांव के चार बच्चे ही पास हो सके थे, उनमें से एक राकेश भी थे।

पड़ोस के साइंस कॉलेज में उन्हें आसानी से दाखिला मिल गया, मगर गुजराती माध्यम से इंग्लिश मीडियम का सफर आसान न था। दुर्योग यह कि उन्हीं दिनों दादाजी के देहांत के बाद संयुक्त परिवार की चूलें बेतरह हिल गई थीं और उसका तनाव पहले बड़े भाई की पढ़ाई निगल गया, और फिर राकेश भी उससे प्रभावित होते चले गए। नतीजतन, पहले साल का इम्तिहान वह पास न कर सके, मगर वह लगातार कॉलेज जाते रहे। राकेश को लगता था कि दूसरे साल में वह पिछले पेपर भी क्लियर कर लेंगे। पर ऐसा न हुआ और वह अनुतीर्ण करार दिए गए। सिर्फ माता-पिता अपनी संतान को कभी फेल नहीं मानते। परिवार का कारोबार बंट चुका था। आर्थिक

स्थिति अच्छी नहीं थी। मगर मनुभाई ने बेटे से पूछा, आगे क्या पढ़ना चाहते हो? राकेश ने इंग्लिश मीडियम से ही कोई कोर्स करने की ख्वाहिश जताई। उन दिनों बेंगलुरु के कई संस्थान 12वीं के अंक के आधार पर विभिन्न तरह के डिप्लोमा कोर्स कराते थे। राकेश का अगला पड़ाव बेंगलुरु बना। पिता ने ब्याज पर कर्ज लेकर फीस के पैसे दिए थे, यह बात राकेश कभी न भूल सके। काफी अच्छे ग्रेड के साथ उन्होंने वह पाठ्यक्रम पूरा किया।

डिप्लोमा का सर्टिफिकेट हाथ में था, मगर इसके आधार पर कोई अच्छी नौकरी नहीं मिल पा रही थी। अंततः जोशी कोहिनूर टेक्निकल इंस्टीट्यूट में 'पार्ट टाइम लेक्चरर' की नौकरी मिली भी, तो चंद महीनों में ही वह भी हाथ से निकल गई। अंग्रेजी भाषा में धारा प्रवाह संवाद न कर पाना, विषय की महारत पर भारी पड़ गया था। राकेश बेहद आहत थे, पिता से पैसे नहीं मांग सकते थे और बेंगलुरु जैसे महंगे शहर में जीना भी दुश्वार होने लगा था। आखिरकार वह वसो लौट आए। संयोग से उन्हीं दिनों मशहूर निर्माता-निर्देशक देवांग पटेल एक गुजराती धारावाहिक के सिलसिले में वसो शूटिंग के लिए आए थे, राकेश को उसमें काम करने का मौका मिला। ऐक्टिंग के क्षेत्र में दिलचस्पी उन्हें 'परफॉर्मिंग आर्ट्स' की डिग्री के लिए बड़ौदा ले गई। मगर इस दौरान गुजराती धारावाहिकों में इतने काम मिल गए कि उसकी व्यस्तता में वह डिग्री भी अधूरी रह गई। राकेश को काम तो मिल रहे थे, मगर मनपसंद भूमिकाएं न मिलते देख वह निराश होने लगे थे। उन्हीं दिनों ईटीवी गुजराती चैनल में एंकर्स और पत्रकारों के लिए लिखित परीक्षाएं हो रही थीं। पिता ने ही राकेश को यह बताया और

उनसे फौरन आवेदन करने को कहा। साल 2007 की बात है, सभी प्रक्रियाओं को पूरा करते हुए राकेश चुन लिए गए। बतौर एंकर हैदराबाद में उनके इस नए सफर का आगाज हुआ। अगले सात वर्षों के पत्रकारीय करियर में राकेश दिल्ली और मुंबई में वॉयस ऑफ इंडिया व मिड डे गुजराजीवेब पोर्टल से भी जुड़े। मगर इस बार पिता की खराब सेहत उन्हें फिर वसो ले आई।

पिता स्वस्थ हुए, तो उन्होंने राकेश से अपने कारोबार के विकल्प पर गौर करने को कहा। राकेश भी इस बार राजी हो गए। उन्होंने पिता के साथ दो वर्षों तक कारोबार व जिंदगी की बारीकियां समझी। नोटबंदी के दौरान पिता ने उनके लिए एक अलग दुकान की व्यवस्था की और इसके साथ ही तरह-तरह के सपनों का यह मुसाफिर स्थायी रूप से कारोबारी बन गया। सेवाभावी पिता ने एक दिन राकेश से दिली इच्छा जताई कि वह गरीब लोगों के लिए राम रोटी सेवा (मुफ्त भोजन) शुरू करना चाहते हैं। तब राकेश ने कुछ बेदिली से कहा कि इसमें तो काफी पैसे लगेंगे, हम यह काम कुछ दिनों बाद ही कर सकेंगे। इस गुफ्तगू के तीसरे दिन पिता अचानक दुनिया से चल बसे। बेटे के दिल में एक कसक रह गई कि पापा की आखिरी इच्छा न पूरी कर सकी, तो लानत है इस जिंदगी पर! पिता की मौत के तीसरे दिन से ही गरीबों को मुफ्त भोजन कराने की राम रोटी सेवा अब 'विसामो टिफिन सेवा' के नाम से वसो तालुके के गांव-गांव में मशहूर है। इस क्षेत्र के करीब 500 बेघर, अशक्त और गरीब बुजुर्गों को राकेश की संस्था रोजाना मुफ्त भोजन मुहैया कराती है। इनके ट्रस्ट में 18 लोग काम करते हैं। यह अब तक ढाई लाख टिफिन भोजन वितरित कर चुके हैं। काश। देश के हर तालुके को एक राकेश मिल जाएं, तो कोई बुजुर्ग भूखे पेट न सोएं, उन्हें कंबल भी नसीब हो जाए और बिस्तर भी।

**हरेक बाल-श्रमिक में छिपे अमर को पहचानिएः** गरीबी और आर्थिक विषमता के दर्दनाक हालात ने दशकों पहले राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' को इस कदर व्याकुल किया था कि उनकी कलम से विपथगा कविता निकली थी- श्वानों को मिलते दूध-वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं। मां की हड्डी से चिपक, ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं। पापी महलों का अहंकार देता मुझको तब आमंत्रण। दुर्योग से अमीरी-गरीबों की खाई चौड़ी ही हुई है। इसीलिए तमाम कानूनी उपायों के बावजूद बाल श्रम, बाल-विवाह की समस्या खत्म नहीं हो पाई है। कई बार किसी ढाबे या रसूखदार के घर के बाल श्रमिक हमें यूं देखते मिल जाते हैं, मानो कह रहे हों-हमें उबार लो, हमारे हाथ थाम लो, हम भी कुछ बनना चाहते हैं। अमर लाल ऐसी ही अभिलाषाओं के प्रतिनिधि हैं। राजस्थान के बंजारा समुदाय में पैदा हुए अमर का बचपन भी उन अनगिन बच्चों सा था, जिन्हें सुबह-सुबह यह सवाल सताने आ जाता कि आज घर में कुछ खाने को मिलेगा भी कि नहीं? इस बुनियादी चिंता ने अमर से भी उनका लड़कपन छीन लिया था। उसमें स्कूल और किताबों का कोई जिक्र क्या होता। होश संभालते ही पेट भरने की मजबूरी ने अमर को भी पत्थरतराशों के बीच पहुंचा दिया था। उनके परिवार पर स्थानीय महाजन का कर्ज ऐसा चढ़ा कि उतरने का नाम ही नहीं लेता था, इसलिए परिवार के सारे सदस्य बंधुआ मजदूरी करने को बाध्य थे। छोटे-छोटे बच्चों से भी पत्थर ढुलवाने में साहूकार सामंतों को शर्म नहीं आती थी।

साल 2001 की बात है। अमर की उम्र भी छह-सात साल रही होगी। उनका खानाबदोश परिवार उन दिनों जिस गांव की पत्थर की खान में काम कर रहा था, वहां 'बचपन

बचाओ आंदोलन' एक शिक्षा रैली लेकर पहुंचा। खदान के करीब से गुजरते हुए रैली के अगुवा कैलाश सत्यार्थी ने जब नन्हे अमर के हाथों में पत्थर का बड़ा टुकड़ा देखा, तो बह ठिठक गए। वह फौरन अमर के माता-पिता से बात करने पहुंचे, ताकि उन्हें समझा सकें कि यह जुल्म है। यह तो इस बच्चे के खेलने-कूदने, पढ़ने-लिखने के दिन हैं। अब जिनके पुरखों ने कभी स्कूल का मुंह न देखा हो, वे भला क्या समझते शिक्षा की अहमियत। उनके लिए बाल मजदूरी कोई अनहोनी बात न थी, क्योंकि ये सभी भी यही करते हुए बड़े हुए थे।

मगर कैलाश सत्यार्थी उन्हें यह समझाने में जुटे रहे कि उनका बेटा किसी बड़े काम के लिए बना है। उन्होंने अमर के पिता से कहा कि यदि वह अपने बच्चों की पढ़ाई का खर्च वहन नहीं कर सकते, तो जयपुर में एक बाल-आश्रम है, जो इनकी जिम्मेदारियां उठा लेगा। गरीब माता-पिता बेटों का भला भी चाहते थे और उनके दिल में तरह-तरह के वसवसे भी उठ रहे थे। कैसे अपनी संतान की नजरों से इतनी दूर भेज दें? बिछोह के ख्याल से हृदय कांपने लगा था। लरजती आवाज में अमर के पिता ने सत्यार्थी जी से बस यही कहा कि यह पहले जयपुर आश्रम आकर वहां रह रहे बच्चों को देखेंगे, तभी फैसला करेंगे।

माता-पिता, दोनों जयपुर बाल-आश्रम आए। असंतोष की कोई गुंजाइश ही नहीं थी, क्योंकि जैसी जिंदगी वे अपने बच्चों को दे रहे थे, उससे आश्रम के जीवन की कोई तुलना ही नहीं थी। अमर अपने दो बड़े भाइयों के साथ जयपुर आश्रम आ गए। वे सब बेहद खुश थे, क्योंकि वहां वे अपनी मर्जी से खेल सकते थे, पढ़-लिख सकते थे। छह महीने तक आश्रम में पढने के

बाद अमर और उनके भाइयों का औपचारिक शिक्षा के लिए एक सरकारी स्कूल में दाखिला करा दिया गया। अमर ने वहीं से 12वीं की अपनी पढ़ाई पूरी की।

बाल-आश्रम ने अमर और उनके भाइयों को न सिर्फ एक नई जिंदगी दी, बल्कि अमर के नेतृत्वकारी गुण को भी पोसा। यह कई बार बाल- आश्रम बालसभा के अध्यक्ष चुने गए। आश्रम में ही उन्हें सत्यार्थी के वेटे भुवन से संवाद करने का मौका मिला, जो पेशे से वकील हैं। जैसे-जैसे अमर बड़े व शिक्षित हुए, उनका यकीन पुख्ता होता गया कि कानून ही वह जरिया है, जिसकी मदद से बच्चों को मुक्ति दिलाई जा सकती है। साल 2013 में उसने लॉ कॉलेज में दाखिला लिया और 2018 में कानून में स्नातक की डिग्री हासिल करने के बाद 2019 से उसने अपनी प्रैक्टिस शुरू कर दी।

करीब छह महीने तक दिल्ली के तीस हजारी कोर्ट में वकालत करने के बाद डेढ़ साल तक अमर ने दिल्ली उच्च न्यायालय में एक वरिष्ठ वकील के साथ काम किया और उसके बाद से वह अपनी संस्था के लिए काम करते हैं। वह न सिर्फ बाल मजदूरों के मुक्ति अभियान में सक्रिय भूमिका निभाते है, बल्कि जिस किसी गांव के बारे में उन्हें पता चलता है कि वहां बच्चों को स्कूल नहीं भेजा जा रहा, अमर वहां पहुंचकर अपनी कहानी सुनाते हैं और परिजनों को प्रेरित करते है कि वे अपने बच्चों का भविष्य बना लें। अमर को स्वीडन और नीदरलैंड में अंतरराष्ट्रीय सम्मेलनों की संबोधित करने का मौका मिला, जहां उन्होंने बच्चों के अधिकारों और बाल विवाह के खिलाफ दुनिया का ध्यान खींचा।

अमर के माता-पिता के पास जोधपुर में अब अपना घर है। जब भी कभी कोई उनसे पूछता है आपका बेटा दिल्ली में

वकील है, अमर के अभिभावकों के लिए यह गौरव का क्षण होता है। उनके दूसरे बेटे-बेटी भी अब नौकरी करते हैं। मगर इन वर्षों में अमर बार-बार अपने समुदाय के बीच लौटते रहे। नतीजतन, उनके बंजारा समुदाय के अब लगभग सभी बच्चे स्कूल जाने लगे हैं। इलाके के खानाबदोश समुदायों के सामने मिसाल के दौर पर उनकी कहानी पेश की जाती है। हालांकि, अमर ने हाशिये पर जीने वाले हरेक बच्चे के हक की लड़ाई लड़ने का फैसला किया है। इसीलिए अपने बचपन को उन्होंने हमेशा अपने भीतर जिंदा रखा, ताकि यह उन्हें याद दिलाता हे, हजारों बाल श्रमिकों को अमर की तलाश है।

**विलाप नहीं, कठोर साधना से खुद को साबित कीजिएः** हिन्दुस्तान की धरती सदियों से तरह-तरह के लोगों को लुभाती रही है। यहां सिर्फ दौलत के लोभ में लुटेरे और आक्रांता ही नहीं आए, बल्कि ज्ञान के पिपासु और अध्यात्म के मुरीद भी खिंचे चले आते रहे। आक्रांताओं का दौर तो खैर साढ़े सात दशक पहले हमेशा-हमेशा के लिए खत्म हो गया, मगर अपनी आध्यात्मिक-धार्मिक आभा के कद्रदानों के लिए यह देश हमेशा अपने द्वार खुले रखेगा। आज एक ऐसी ही बौद्ध भिक्षुणी 'तेन्जिन पाल्मो' की कहानी, जो जन्म से तो भारतीय नहीं है, मगर इन्होंने बुद्ध के देश को अब अपना घर बना लिया है। पाल्मो को बीबीसी ने हाल ही में दुनिया की सौ प्रभावशाली महिलाओं में शुमार किया है।

आज से लगभग अस्सी साल पहले ब्रिटेन में पैदा हुई पाल्मो का नाम तब डायने पेरी रखा गया था। बड़े बेटे के बाद बेटी की पैदाइश ने परिवार को पूर्ण बना दिया था, सब बहुत खुश थे। मगर जब डायने दो साल की थीं, तभी उनके पिता की

मौत हो गई। मां ने ही दोनों बच्चों को पाला। डायने की मां एक अध्यात्मवादी महिला थीं और वह लंदन के परिवारों में इसकी शिक्षा दिया करती थीं। ऐसे में, मां का असर बेटी पर पड़ना स्वाभाविक था। नन्ही डायने के भीतर उसी समय 'सत्य की खोज' को लेकर उत्सुकता पैदा हो गई थी।

साल 1961 की बात है। है। डायने तब अठारह की रही होंगी। जॉन वाल्टर्स की किताब द माइंड अनशेकन को पढ़ते हुए उन्हें ऐसी अनुभूति हुई कि वह पूर्वजन्म में बौद्ध थीं। उनके भीतर एक बेचैनी जन्म ले चुकी थी। जिस उम्र में लड़किया हसीन जिंदगी के ख्वाब संजोती हैं, डायने आध्यात्मिक उत्कर्ष को समझने की राह तलाश रही थीं। स्कूल से निकलने के बाद उन्होंने लंदन स्थित दो पुस्तकालयों में बतौर लाइब्रेरियन काम किया, ताकि इतने पैसे जुटा सके कि बुद्ध की पावन धरती पर उनका जाना हो सके।

अगले दो-ढाई वर्षों में ही वह मौका आ गया, जब उनका सपना पूरा हुआ। डायने हिमाचल प्रदेश में डलहौजी चली आई, जहां फ्रेडा बेदी नाम की एक अंग्रेज महिला के साथ उन्हें काम करने का मौका मिला। फ्रेडा ने डलहौजी में तिव्वती बच्चों के लिए एक स्कूल खोला था। जून 1964 की बात है। संयोग से जिस दिन डायने का जन्मदिन था स्कूल में द्रुक्पा काग्यू लामा 8वें खम्बुल रिनपोछे का आगमन हुआ। उन्हें देखते ही 21 वर्षीया डायने को लगा, उन्हें उनके गुरु मिल गए। बिना वक्त गंवाए उन्होंने उनसे पूछा, क्या वह भिक्षुणी बन सकती हैं? भारत में कदम रखने के महज तीन महीने में ही वह डायने से डूबग्यू तेन्जिन पाल्मो बन गई। तिब्बती बौद्ध मठ निवासी बनने वाले पश्चिम के चंद लोगों में से एक।

जिंदगी की एक पुरानी साथ पूरी हो गई थी। पूरी निष्ठा और शुचिता के साथ तेन्जिन पाल्मो ने धार्मिक नियमों का पालन शुरू कर दिया। सन् 1967 में 16वें करमापा से सिक्किम के रुमटेक मठ में उन्हें श्रामणेरिका दीक्षा प्राप्त हुई। मगर तिब्बती परंपरा में उन दिनों महिलाओं को पूर्ण दीक्षा नहीं दी जाती थी, इसलिए बाद में पाल्मों हांगकांग के मिड फैट मंदिर में भिक्षुणी दीक्षा प्राप्त करने पहुंच गई। फिर एक मोड़ आया, जब गुरु ने गहन साधना के लिए लाहौल की हिमालय घाटी में एकांतवास करने को कहा। पाल्मो लगभग छह वर्षों तक लाहौली मठ तायुल गोम्पा में एकांतवास में रहीं।

आगे की साधना के लिए उन्हें अधिक एकांत की तलाश थी। वह कोई गुफा ढूंढ़ रही थीं, मठ से कुछ घंटे चलने पर दो मीटर की एक गुफा मिल गई। गरमियों के महीनों में केलांग से चीजें आ जाया करतीं और वह पास में शलगम व आलू उगा लेती थीं। मगर सर्दियों के लिए उन्हें भंडारण करना पड़ता, क्योंकि तब बर्फ से पूरा इलाका पट जाता था और पाल्मो की गुफा भी ढक जाती थी, उन दिनों में उन्हें 'मेडिटेशन बॉक्स' में ही साधना करनी पड़ती और उसी में सीधा सोना पड़ता था। मगर इन जीवन-घातक अनुभवों के बावजूद पाल्मो अपनी एकांत साधना में सफल रहीं। 12 वर्षों तक वह गुफा में रहीं। शुरू के नौ वर्षों तक तो वह आगंतुकों से मिल लेतीं या कभी-कदा गुफा से निकलकर दूर कहीं निकल भी जाती थीं, मगर आखिरी तीन साल सख्त साधना में गुफा में ही बीते।

सन् 1988 की गरमियों में उनका एकांतवास खत्म हुआ, तो इटली के दोस्तों के अनुरोध पर पाल्मो उनके साथ रहने चली गई। इस दौरान उनके पास पढ़ाने के कई प्रस्ताव आए, और उन्होंने सबको स्वीकार करना शुरू कर दिया। मगर

उनके मन में एक बात रह-रहकर कौंधती रही कि उनके गुरु ने कई अवसरों पर उनसे एक भिक्षुणी विहार शुरू करने की अपेक्षा जताई थी। साल 1993 में ताशी जोंग खांपगर मठ के लामाओं ने भी पाल्मो से इसके बारे में अनुरोध किया। वह खुद इसका महत्व समझ रही थीं। पाल्मो इस कठिन कार्य के लिए तैयार हो गई। ताशी जोंग के पास ही मुनासिब जमीन भी मिल गई। फिर उन्होंने धीरे-धीरे दुनिया भर से उसके लिए समर्थन जुटाना शुरू कर दिया।

साल 2001 से इसका निर्माण शुरू हो गया और जब यह भिक्षुणी विहार बनकर तैयार हुआ, तो इसे नाम दिया गया- 'डोग्यू गत्सल लिंग' यानी प्रामाणिक वंश-वाटिका। यहां सौ से ज्यादा भिक्षुणियों को प्रशिक्षण मिल चुका है। साल 2008 में तेन्जिन पाल्मो को एक भिक्षुणी के रूप में उनकी आध्यात्मिक उपलब्धियों और महिलाओं की स्थिति को ऊपर लाने के लिए दुर्लभ उपाधि 'जेत्सुन्मा' दी गई, जिसका अर्थ होता है आदरणीय गुरु। तिब्बती बौद्ध धर्म की साधिका।

जब धर्मों की सत्ता में पुरुषों का एकाधिकार कायम हो, तब लंदन के माहौल में पली-बढ़ी तेन्जिन पाल्मो की यह विरल यात्रा बताती है कि अध्यात्म और साधना के क्षेत्र में भी स्त्रियां मर्दों  से कमतर नहीं हैं। निष्ठा, शुचिता और लोकमंगल की भावना उन्हें भी धर्मसत्ता की गद्दी दिला सकती है।

**हैवानियत से छिड़ी लड़ाई में मजलूमों की एक आवाजः** जब कोई इंसान हैवान बन जाता है, तो यौन हिंसा उसका सबसे आसान हथियार होती है। उत्तरी अफ्रीकी देश सुडान भी इसका भुक्तभोगी है। भले ही 1956 में यह मुल्क अहिंसक तरीके से ब्रिटिश साम्राज्यवाद से मुक्त हुआ, लेकिन 15 से अधिक सैन्य तख्तापलट देखने के बाद इसे अब मानवता

के लिहाज से एक 'दुःस्वप्न' कहा जाता है। फिलहाल यहां दो सैन्य गुटों में हिंसक टकराव है, जिसमें से एक का नेतृत्व सुहान के सेना प्रमुख अब्देल फतेह अल-बुरहान कर रहे हैं. तो दूसरे का रैपिड सपोर्ट फोर्स (अर्द्धसैनिक बल) के मुखिया मोहम्मद हमदान दगालो। सूडान की सत्ता पर काबिज होने की उनकी यह जंग आम सूडानियों पर भारी पड़ रही है। आलम यह है कि अप्रैल, 2013 से जारी इस गृह युद्ध में 80 लाख से अधिक लोग पलायन कर चुके हैं और लाखों भूख से मुकाबिल हैं। इसमें महिलाओं और बच्चियों का अपना संघर्ष है, क्योंकि दोनों गुटों के लड़ाके उनका यौन उत्पीड़न कर रहे हैं। इनास मुजामिल इन्हीं मजलूमों की आवाज हैं।

इनास का जन्म राजधानी खार्तुम में हुआ, लेकिन यहां की पितृसत्तात्मक व्यवस्था से उनका पाला तब पड़ा, जब उनके पिता का देहांत हुआ। उस वक्त वह सिर्फ 13 साल की थीं। अपने पति को खोने के बाद इनास की मां ने सात बेटियों की जिम्मेदारी खुद उठाने की सोची। मगर सूडानी समाज को यह गवारा न हुआ। इस परिवार को अपने ही घर से बेदखल करने का दबाव बनाया जाने लगा। मगर मां मजबूती से खड़ी रहीं। उनको इस सफल लड़ाई ने ही इनास को दमन के खिलाफ खड़े होने का साहस दिया।

इनास का यह जज्बा मुसलसल कायम रहा। साल 2002 में उनका दाखिला खार्तुम यूनिवर्सिटी में हुआ और स्नातक स्तर पर विषय था कृषि अर्थशास्त्र, लेकिन वह यहां लैंगिक समानता, खासतौर से महिलाओं के लिए छोटे-छोटे उद्यमों के प्रबंधन पर मुखर रहीं। इसके लिए उन्होंने कई चर्चाएं आयोजित की। दारफुर नरसंहार पर उनका अध्ययन विश्वविद्यालय का बेहतरीन शोध-पत्र घोषित किया गया। इन

सबसे मानवाधिकारों को लेकर इनास की राय दिनोंदिन मजबूत होती गई। वह कहीं अधिक खुलकर लोकतंत्र और नारी सशक्तिकरण की हिमायत करने लगीं। वह लोकतंत्र समर्थकों की एक मजबूती बन गई थीं। हालांकि, उनको यह भी इल्म था कि ऐसी कोई मुहिम महिलाओं की मजबूत भागीदारी के बिना सफल नहीं हो सकती, तो वह घर-घर जाकर लोगों से मिलने लगीं। यह कोई आसान काम नहीं था। इसमें उनको न सिर्फ पुरुष-वर्ग के ताने सुनने को मिले, बल्कि बंधनों की आदी हो चुकी महिलाओं के विरोध भी झेलने पड़े। लिहाजा, उन्होंने नई पीढ़ी पर ध्यान लगाना शुरू किया।

साल 2017 की 'सूडानीज फीमेल साइकलिस्ट इनीशिएटिव' इसमें एक अहम कड़ी साबित हुई। यूं तो 1950 के दशक से ही सुडान के लोग साइकिल चला रहे थे, लेकिन इस पर पुरुषों और लड़कों का ही अधिकार था। इनास और उनकी दोस्त रुबैदा इब्राहिम ने महिलाओं को आगे आने के लिए प्रेरित किया। शुरुआत में चंद लड़कियां ही इस पहल से जुड़ीं, पर बाद में इसमें 2,000 से अधिक भागीदारों के आने से सार्वजनिक जीवन में महिलाओं की हिस्सेदारी बढ़ाने की मांग अधिक मुखर होने लगी। यह ऐसा वक्त था, जब इनास अहफाद यूनिवर्सिटी फॉर वुमेन से मास्टर डिग्री की पढ़ाई भी कर रही थीं और अपने सामाजिक कर्तव्यों के निर्वहन में भी जुटी थीं। अपनी संस्था 'मदनिया' की नींव भी उन्होंने इसी दौरान डाली, जिसका मुख्य मकसद था, खासकर महिलाओं की सार्वजनिक भागीदारी बढ़ाना।

सैन्य तानाशाह उमर अल-बशीर के खिलाफ जन-विद्रोह ने इनास को वैश्विक पहचान दी। 2018-19 की इस

क्रांति में हजारों महिलाएं इनास की एक आवाज पर उठ खड़ी हुई। उनके हथियार थे, रसोईघर के सामान। यह एक सफल आंदोलन रहा और बशीर सत्ता से बेदखल कर दिए गए। नागरिक सरकार बनाने की कवायद तेज हुई, लेकिन यह अपने अंजाम तक पहुंच पाती कि 2023 की सैन्य बगावत ने फिर से इस देश को हिंसा के दलदल में धकेल दिया। महज एक रात में ही पूरी तस्वीर बदल गई। बुरहान और दगालो के लड़ाके एक-दूसरे के खून के प्यासे हो गए। घरों, शिक्षण संस्थानों, यहां तक कि अस्पतालों को भी निशाना बनाया जाने लगा। वे चुन-चुनकर उन्हें भी मारने लगे, जो 2018-19 की क्रांति में शामिल थे। औरतों के साथ बलात्कार मानो सामान्य बात हो गई। इससे बड़ी संख्या में सूडानी पड़ोसी देशों में भागने को मजबूर हुए। इनास भी उनमें से एक थीं।

इनास बताती हैं, 'मैं खार्तुम छोड़ना नहीं चाहती थी, पर जब देखा कि पड़ोस के मकान में खाना बना रही महिला को गोलियों से भून दिया गया, तो मुझे भी तुरंत घर छोड़ना पड़ा।' उन्होंने इथियोपिया जाने की सोची। हर दिन वे सभी एक से दूसरे शहर भागते रहे। राजधानी अदीस अबाबा पहुंचने में उन्हें नौ दिन लगे। यहां कई रातें उन्होंने आंखों में गुजारीं।

ऐसा नहीं है कि अब वह शांत हो गई हैं। अरबी, डच और अंग्रेजी भाषा में निपुण इनास अनवरत तमाम वैश्विक मंचों पर सूडान के नागरिकों की आवाज बुलंद कर रही हैं। वह ऑनलाइन माध्यमों से जुड़कर सूडान में जरूरतमंदों तक मदद भी पहुंचा रही हैं। उनके मित्रों के मुताबिक, अब भी उन्हें 20-20 घंटे काम करते देखा जा सकता है। सूडानी महिलाओं का भरोसा बनाए रखने का वह हरसंभव प्रयास कर रही हैं। इस

कारण उनकी झोली में कई पुरस्कार भी आए हैं, लेकिन यह उनकी मंजिल नहीं। उनके मुताबिक, जब तक सूडान एक सभ्य समाज नहीं बन जाता, उन्हें कहां चैन है। इससे यही लगता है, मशहूर अमेरिकी कवि रॉबर्ट फ्रॉस्ट ने उन जैसी हस्तियों के लिए ही लिखा है, अभी तो मीलों मुझको, मीलों मुझको चलना है।

**शहद की मिठास जानता हूं, पद्मश्री का स्वाद नहीं पताः** साल 2024 में घोषित पांच भारत रत्नों के नाम पर आज जब चारों तरफ खुशियां जताई जा रही हैं, तो कुछ सवाल भी पूछे जा रहे हैं, मगर क्या आपने गौर किया कि पद्मश्री से सम्मानित कई हस्तियां ऐसी हैं, जिनके बारे में आप अब तक बिल्कुल नहीं जानते थे और जो वाकई भारत के अनमोल रत्न हैं। हमारे भारत रत्नों ने तो किसी ऊंचे मुकाम पर पहुंचकर देश और समाज को दिशा दी, तब उनके पास ओहदे से जुड़े अधिकारों और संसाधनों को कोई कमी न थी, उनकी इच्छाओं और नीतियों को लागू करने के लिए एक लंबी-चौड़ी फौज पीछे खड़ी रहती थी, मगर पद्मश्री से सम्मानित सोमन्ना जैसों के पास यह सब कहां होता है? वे तो बस अपनी इच्छाशक्ति से बदलाव के वाहक बनते हैं।

मैसूरु जिले (कर्नाटक) के एचडी कोटे तालुके में आज से 66 साल पहले सोमन्ना पैदा हुए। जिस जेनु कुरुबा आदिवासी समुदाय में उनका जन्म हुआ, वह मूलतः केरल- कर्नाटक के सीमावर्ती इलाकों में बसा है। इस समुदाय की आबादी पचास हजार से भी कम है, इसीलिए इसे संवेदनशील जनजाति में गिना जाता है। आज से पांच-छह दशक पहले आदिवासियों की

क्या हालत थी, इसका अंदाज इसी से लगाया जा सकता है कि मां बासम्मा और पिता कुनैयाह की नौवीं संतान सोमन्ना और एक बहन ही बच सकीं। शेष सभी बच्चे किसी न किसी रोग के शिकार बन गए।

सोमन्ना चौथी जमात से आगे न पढ़ सके, क्योंकि भूख और गरीबी ने इसकी इजाजत ही नहीं दी। माता-पिता के लिए एक शाम का भोजन जुटाने की खातिर बालपन में ही उन्हें अपने गांव में लोगों की गौशालाएं साफ करनी पड़ती। वह इतनी उम्र में बंधुआ मजदूर बन चुके थे, जब उन्हें इसका मतलब भी पता न था। लगभग सोलह वर्षों तक सोमन्ना की जिंदगी इस मजदूरी की चक्की में पिसती रही। मगर सन् 1976 में इंदिरा गांधी सरकार ने बंधुआ मजदूरी उन्मूलन कानून लागू किया, तो सोमन्ना को इस दुश्चक्र से मुक्ति मिल गई। पहली बार उन्हें लगा कि आजादी का क्या मतलब होता है।

इसके लगभग दो साल बाद कर्नाटक की देवराज अर्स सरकार ने एक भूमि सुधार कानून लागू किया था, जो भूमि-जोत के मालिक को उसका मालिकाना हक देने से जुड़ा था। युवा सोमन्ना को लगा कि यह कानून शायद उनकी तकदीर संवारने के लिए ही आया है। संघर्ष का नतीजा था कि उन्हें 31 गुंटा भूमि मिल गई। एक एकड़ में 40 गुंटा जमीन आती है। एक बंधुआ मजदूर से भू-मालिक बनने का सुख कितना अप्रतिम होता है, इसे इस बात से जाना जा सकता है कि सोमन्ना आज भी उस एक-एक नेता का नाम पूरे सम्मान से लेते हैं, जिन्होंने यह भूमि दिलाने में उनकी मदद की थी।

खेती-किसानी और वनोपज के सहारे जीवन को एक दिशा मिल गई थी। लेकिन कुछ समय बाद ही जब नागरहोल जंगल से आदिवासियों को बेदखल किया जाने लगा, तो सोमन्ना

बेचैन हो उठे। यह सवाल उन्हें परेशान करने लगा था कि इतने सारे आदिवासी परिवार यहां से उजाड़ दिए गए, तो वे कहां जाएंगे? उन्होंने बुडाकट्टू कृषका अभिवृद्धि संघ और सोलिगा अभिवृद्धि संघ का गठन किया और उन सबका मुकदमा लड़ा। उनकी जीत हुई और बेदखल सैकड़ों आदिवासियों को उनका मालिकाना हक भी मिला। इस संघर्ष ने उन्हें जेनु कुरुवा समुदाय के बाहर भी समान रूप से लोकप्रिय बना दिया।

जब नागरहोल वनक्षेत्र में ही पर्यावरण के लिहाज से अत्यंत संवेदनशील इलाके में एक स्टार होटल बनाने सुगबुगाहट शुरू हुई, तो सोमन्ना इस फैसले के खिलाफ अदालत पहुंच गए। इस कानूनी जंग को लड़ने के लिए उन्हें अपनी पत्नी के जेवर तक बेचने पड़े, मगर चार बच्चों के पिता सोमन्ना ने एक क्षण भी इसके बारे में नहीं सोचा। जंगल के हितों से पृथक उनका हित कहां था? जब कभी भी वनभूमि पर धनपतियों ने बुरी निगाह डाली, सोमन्ना उनके सामने पहाड़ बनकर खड़े हो गए। हर बार लोभी कारोबारियों को घुटने टेकने पड़े।

सोमन्ना चाहते, तो अपेक्षाकृत संपन्न जिंदगी जी सकते थे। आदिवासियों के उत्थान के उनके कार्यों के लिए मैसूरु के जिला अधिकारी ने उन्हें चार एकड़ भूमि आवंटित की थी, मगर उन्होंने उसे अस्वीकार करते हुए उस जमीन को भूमिहीन आदिवासियों में वितरित करने की प्रार्थना कर डाली। जाहिर है, इन सबसे कर्नाटक के बाहर भी उनकी ख्याति बढ़ी और आदिवासियों के कल्याण के लिए पड़ोसी केरल व देश के अन्य राज्यों के आदिवासी संघों ने भी उनसे संपर्क साधा। साल 1991 में फिलीपींस में आयोजित एक सम्मेलन में उन्हें भारतीय आदिवासियों की नुमाइंदगी करने का मौका मिला।

मगर सोमन्ना आज भी अपने बचपन को नहीं भूले हैं। वे तमाम मंचों और सरकारी संस्थाओं से यही कहते रहते हैं कि वनक्षेत्र में जीने वाले गरीबों की सबसे बड़ी समस्या भूख है। उन तक सामाजिक कल्याण की धाराएं पहुंचनी चाहिए, ताकि वे भी अपने गणतंत्र के वैभव का गुणगान कर सकें। सोमन्ना की सादगी देखिए कि जब उनसे पद्मश्री सम्मान के बारे में पूछा गया, तो उनका जवाब था- मुझे पता है कि शहद का स्वाद कैसा होता है, मगर में पद्मश्री का स्वाद नहीं जानता। इस सादगी के पीछे का दर्शन पद और सम्मान से मदांध हो चुके लोग क्या जानेंगे ?

सोमन्ना की अब यही इच्छा है कि सरकार जंगल के भीतर आदिवासियों के अधिकारों का संरक्षण करे। उनको वहां से किसी भी स्थिति में नहीं निकाला जाना चाहिए। उनकी गरीबी और अशिक्षा को दूर करने के लिए विशेष अभियान चलाए जाने चाहिए।

**दिव्यांगों का ख्याल रखने को दिव्य दृष्टि भी चाहिए:** सदियों पहले किसी दार्शनिक ने कहा था, इस दुनिया में दो तरह के लोग हैं। एक वे, जो अंधेरे में बैठे-बैठे उसे बस कोसते रहते हैं और दूसरे वे, जी उठकर दीया जलाने का उद्यम करते हैं। अमरावती (महाराष्ट्र) जिले के वज्जर गांव में रहने वाले 81 वर्षीय शंकर बाबा पुंडलीकराव पापलकर को जब पिछले दिनों पद्मश्री देने की घोषणा हुई, तब एक बार फिर यह दार्शनिक-कथन स्मरण हो आया। पापलकर' अंबादासपंत वैद्य मतिमंद मूक-बधिर बेवारिस बालगृह' नाम से एक अनाथालय चलाते हैं, जिसमें दिव्यांग बच्चों की परवरिश व देखभाल की जाती है।

लगभग सवा सौ बच्चों की क्षमता वाले इस केंद्र में ज्यादातर बच्चियां हैं। पापलकर इन सबके पिता हैं। सामाजिक रूप से ही नहीं, बल्कि वैधानिक रूप से भी।

दरअसल, नौजवान पापलकर 1970 के दशक से ही देवकीनंदन गोपाल नाम से एक मराठी पत्रिका निकाला करते थे। एक 'स्टोरी' के दौरान उन्होंने देखा कि कई सारी मूक-बधिर व दिव्यांग बच्चियों को वेश्यावृत्ति के पेशे में धकेल दिया गया था। उनमें से कई तो शारीरिक रूप से इतनी अक्षम थीं कि वे प्रतिरोध भी नहीं कर सकती थीं। कई बच्चियों को मरने के लिए छोड़ दिया गया था। इस अमानवीय उद्घाटन ने पापलकर को बुरी तरह आहत कर दिया था। उनके मन में बाल-सदन खोलने की योजना का बीज उसी क्षण पड़ गया था। मगर यह बहुत बड़ी जिम्मेदारी थी और पापलकर सिर्फ भावुकता में फौरन कोई कदम नहीं उठा सकते थे। लेकिन कुछ ही दिनों के अंतराल पर 1990 में घटी दो घटनाओं ने उन्हें फिर से झकझोरा। इन दोनों मामलों में जैविक माता-पिता ने अपनी दिव्यांग संतानों को लावारिस छोड़ दिया था। पापलकर ने उसी वर्ष ऐसे परित्यक्त बच्चों के लिए एक बालगृह की शुरुआत की। शुरुआत में मुंबई और नासिक पुलिस ने दो दिव्यांग बच्चियां उनके हवाले की, पर अगले पांच वर्षों में ही नवजातों की तादाद 123 पहुंच गई। 98 लड़कियां और 25 लड़के। पापलकर ने उसके बाद हाथ जोड़ दिए, क्योंकि 18 साल के बाद भी ये दिव्यांग उनके आश्रम में ही रहने वाले थे।

देश का कानून कहता है कि 18 की उम्र के बाद आश्रितों को अनाथालय छोड़ना होगा, मगर पापलकर उन्हें कैसे छोड़ देते, उन्होंने तो उन सबको अपनी संतान माना है? वह अच्छी तरह जानते थे कि एक बार जिस बच्चे को उसके

घरवालों ने त्याग दिया, वह पूरी उम्र लावारिस ही रहता है। ऐसे में, 18 साल के बाद अनाथालयों से निकलने को मजबूर लड़कियां प्रायः दोजख में पहुंच जाती हैं और लड़के सड़क पर भीख मांगते हुए दुनिया के अंधेरे में खो जाते हैं। इसीलिए पापलकर ने 20 लाख रुपये के सरकारी अनुदान को भी ठुकरा दिया, क्योंकि धन लेने पर उन्हें सरकारी नियम मानना पड़ता।

करीब 25 एकड़ भूमि के बीचोबीच बने इस बालगृह के मुखिया के तौर पर पापलकर के ऊपर 123 बच्चों के सुख-सुविधा की महती जिम्मेदारी आ गई थी। ये सभी नवजात के रूप में यहां आए थे और अब सब 18 साल से ऊपर के हो चुके हैं। सोचिए, कितना कठिन रहा होगा इन्हें संभालना । मगर पापलकर ने जिम्मेदारी उठाई, तो एक उदार पिता की तरह इसे निबाहा भी। नतीजतन, जो दृष्टिबाधित या मूक थे, उनमें से कई आज कॉलेज में पढ़ रहे हैं और जो मानसिक रूप से अक्षम हैं, उनको कुछ यूं प्रशिक्षित किया गया है कि वे बालगृह के पेड़-पौधों की सिंचाई कर पाएं। इनके परिश्रम की बदौलत वहां 200 से अधिक किस्म की वनस्पतियां लहलहा रही हैं। बालगृह की माला ने तो पिछले साल महाराष्ट्र लोकसेवा आयोग की ग्रुप-बी और सी परीक्षा में उत्तीर्ण होकर एक मिसाल कायम की है। जन्म से ही दृष्टिबाधित माला को उनके माता-पिता ने जलगांव रेलवे स्टेशन पर कचरे के डिब्बे में फेंक दिया था। तब पापलकरने उन्हें अपनाया और अनाथालय ले आए। अमरावती के प्रतिष्ठित वीएमवी कॉलेज से कला- स्नातक माला ने 2019 से प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी शुरू कर दी थी। उनकी प्रतिभा व प्रतिबद्धता को देखते हुए कॉलेज के कई शिक्षकों ने उनकी आर्थिक मदद की, नतीजतन आज वह समाज की मुख्यधारा में शामिल हो सकी हैं।

पापलकर के बालगृह के अब तक 30 लड़के-लड़कियों की शादी हो चुकी है। कई जोड़े तो माता-पिता भी बन चुके हैं और उनकी संतानें बिल्कुल स्वस्थ हैं। दिसंबर 2020 में इस बालगृह के एक जोड़े की शादी काफी चर्चित रही थी। सूबे के तत्कालीन गृह मंत्री अनिल देशमुख ने यहां की दिव्यांग बच्ची वर्षा को गोद लिया और बड़े धूमधाम से उसका कन्यादान किया था। जिला कलक्टर ने वर (समीर) के पिता की भूमिका निभाई थी। उस विवाह का कर्मकांड तो एक पंडित ने पूरा कराया, पर इस जोड़े को आशीष देने के लिए मौलवी, पादरी, ग्रंथी, जैन गुरु और बौद्ध भिक्षु, सब उपस्थित थे। यही नहीं, आरएसएस प्रमुख मोहन भागवत से लेकर नितिन गडकरी समेत महाराष्ट्र के कई मंत्री उस समारोह में शरीक हुए थे।

अंबादासपंत बेवारिस बालगृह का खर्च दानदाताओं के चंदे और पापलकर के व्याख्यानों से मिलने वाली रकम से चलता है। यहां रहने वाले सभी दिव्यांगों की नियमित मेडिकल जांच कराई जाती है। सभी एक-दूसरे के खाने-पीने और दवा की खुराक का पूरा-पूरा ख्याल रखते हैं, क्योंकि वे सब एक दर्द के रिश्ते से बंधे हैं। पापलकर कहते हैं, शारीरिक रूप से पूरी तरह सक्षम कर्मचारी दिव्यांगों की समुचित देखभाल कभी नहीं कर सकते, क्योंकि वे उनकी भावनाओं से उस तरह नहीं जुड़ सकते, जैसे एक दिव्यांग जुड़ता है। इसलिए इनके संरक्षण केंद्रों से हमें तरह-तरह की शिकायतें मिलती हैं।

वयोवृद्ध पापलकर की अब यही इच्छा है कि सरकार अपने कायदे-कानून में संशोधन करे और अपनी अंतिम सांस तक ऐसे बच्चों को आश्रय-गृहों में रहने की सुविधा दे, वरना हम उनके पुनर्वास का दावा कैसे कर सकते हैं?

**तालीम के लिए तालिबान से लोहा लेती जांबाज :** फरबरी 2024 को कतर की राजधानी दोहा में अफगानिस्तान के भविष्य पर एक अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन हुआ। इस जलसे को संबोधित करते हुए संयुक्त राष्ट्र महासचिव एंटोनियो गुटेरस ने काबुल के निजाम से जब यह कहा कि अपनी चौहद्दी में लड़कियों की तालीम और महिलाओं के नौकरी करने पर उसने जो अपमानजनक पाबंदी लगाई है. उसे वह फौरन वापस ले और स्कूल की कक्षाओं से लेकर उन तमाम ओहदों तक औरतों की भागीदारी सुनिश्चित करे, जहां से निर्णायक फैसले होते हैं, तो पश्ताना दुरांनी की मुहिम की याद हो आई। अपनी जान पर खेलकर वह अफगान लड़कियों तक ज्ञान की रोशनी बिखेर रही हैं।

अफगानिस्तान के कंधार इलाके के जलमई दुर्रानी एक तरक्कीपसंद कबाइली नेता थे, जो लड़कियों की तालीम की बढ़-चढ़कर हिमायत किया करते। जाहिर है, कट्टरपंथियों को उनकी यह बात नागवार गुजरती थी। उन्हें कई बार खामोश रहने को कहा गया, मगर जलमई दुर्रानी लगातार मुखर रहे। ऐसे में, जब मुल्क में गृह-युद्ध लंबा खिंचा और कंधार इलाके पर तालिबान का पूरा नियंत्रण हो गया, तो दुर्रानी परिवार के सदस्यों के पास देश छोड़ने के अलावा कोई रास्ता नहीं बचा। वे भागकर पाकिस्तान पहुंचे, जहां क्वेटा में उन सबको शरण मिली। करीब 27 साल पहले क्वेटा के ही एक शरणार्थी शिविर में पश्ताना पैदा हुई। उनके पिता अच्छी तरह जानते थे कि शरणार्थी शिविरों की इन खानाबदोश जिंदगियों को अब इज्जत का मुकाम सिर्फ पढ़ने-लिखने से ही हासिल हो सकता है। लिहाजा अपनी नई नस्लों की शिक्षा को लेकर वह पहले से कहीं अधिक संजीदा हो उठे। उन्होंने अपने अस्थायी घर को ही

स्कूल में तब्दील कर दिया और अपनी पत्नी व परिवार की दूसरी शिक्षित औरतों को शरणार्थी शिविरों की बच्चियों को पढ़ाने की जिम्मेदारी सौंपी।

इसी अनिश्चितता भरे माहौल में पश्ताना पली-बढ़ीं। होश संभालते ही उन्होंने देखा कि उनकी मां और चाची किस तरह हमसाया घरों के लोगों को कायल किया करतीं कि वे अपनी बेटियों को उनके स्कूल भेजें। पश्ताना ने पाकिस्तान में ही हाईस्कूल की अपनी पढ़ाई पूरी की। लेकिन उनकी दिली तमन्ना थी कि आगे की तालीम वह अपने मुल्क की ही किसी यूनिवर्सिटी से हासिल करे। तब तक अफगानिस्तान में निजाम भी बदल चुका था और चारों तरफ उस बदलाव की चर्चा भी थी। कई औरतें न सिर्फ सरकारी मुलाजमत और सियासत में लौट आई थीं, बल्कि अपना कारोबार भी चलाने लगी थीं।

साल 2013 की बात है। दुर्रानी परिवार ने वतन वापसी का फैसला किया। पश्ताना तब 16 साल की थीं। अपने पुरखों की माटी को चूमने की खुशी ही अनूठी होती है। पूरा दुर्रानी खानदान खुश था। मगर कंधार लौटने की पहली ही रात जिस सच से पश्ताना का सामना हुआ, उसने उनकी सारी खुशियों पर मानो तुषारापात कर दिया। खानदान की लड़कियां जब मिलीं, तो उन पर यह हकीकत खुली कि उनके पूरे जिले में, जहां 400 से भी ज्यादा परिवार रहते हैं, एक भी गर्ल्स स्कूल नहीं है। आहिस्ता आहिस्ता यह एहसास भी हुआ कि लड़कियों की पढ़ाई तो सरकार की प्राथमिकता में ही नहीं है।

एक दिन खानदान की ही एक छोटी बहन आई और हसरत भरी निगाहों से पश्ताना की ओर देखते हुए कहा- 'बाजी, मैं भी आपके जैसी बनना चाहती हूं।' पश्ताना शिक्षित थीं, उनके पास अपना लैपटॉप था, वह कॉन्फ्रेंस के लिए काबुल

जाया करतीं, और सबसे बढ़कर उन्हें पिता का पूरा साथ हासिल था। एक कॉन्फ्रेंस के सिलसिले में जब पश्ताना काबुल जा रही थीं, तब उसी बहन ने हुकूमत के नाम एक खत दिया, जिसमें यह करुण गुजारिश थी कि उनके जिले में एक गर्ल्स स्कूल खोला जाए, ताकि वे भी पढ़ सकें। सरकार की जानिब से न कोई जवाब आना था, न आया। मगर पश्ताना उस हसरत के आगे पसीज उठीं।

आखिरकार उन्होंने उस बच्ची के पाठ्यक्रम की सामग्री और सहायक वीडियो इंटरनेट से डाउनलोड किए और उसे पढ़ाना शुरू किया। बच्ची इस लगन से पढ़ती रही कि जल्द ही यह मोड़ आया, जब उसे कंधार शहर के सरकारी स्कूल में दाखिला मिल गया। इस घटना ने पश्ताना को प्रेरित किया कि वह उन तमाम लड़कियों को डिजिटली पढ़ा सकती हैं, जिनकी पहुंच में कोई स्कूल नहीं। इसी नेक इरादे से उन्होंने साल 2018 में 'लर्न अफगानिस्तान' नाम से एक निःशुल्क ऑनलाइन स्कूल खोला। अफगानिस्तान का पहला डिजिटल स्कूल नेटवर्क। इसके जरिये वह अब तक कंधार के 7,000 से अधिक लड़कियों-लड़कों को शिक्षित कर चुकी हैं और 80 शिक्षकों को डिजिटल साक्षरता का प्रशिक्षण दे चुकी हैं।

मगर पश्ताना का यह काम कभी निरापद नहीं रहा, क्योकि कंधार से तालिबान कभी खत्म ही नहीं हुए थे। और फिर जब वह 21 साल की हुई, पिता के इंतकाल के कारण घर की जिम्मेदारियां भी उनके कंधों पर आ गई थीं। साल 2021 में तालिबान के फिर से सत्ता में आने पर स्थानीय सुरक्षाकर्मियों ने उन्हें आगाह किया कि उनका कत्ल किया जा सकता है। पश्ताना को अफगानिस्तान छोड़कर अमेरिका भागना पड़ा।

इन दिनों वह वहीं से अपने मिशन में जुटी हैं। साल 2021 में बीबीसी की तरह प्रतिष्ठित पत्रिका टाइम ने भी उन्हें 100 प्रभावशाली लोगों में गिना है।

औरतों को अपने हक-हुकूक के लिए हमेशा ही भारी संघर्ष करना पड़ता है। आज से पौने दो सौ साल पहले भारत में सावित्रीबाई फुले के साथ क्या-क्या हुआ, यह हमारे इतिहास का हिस्सा है। मगर उन्होंने उस वक्त हमारे देश में स्त्री-शिक्षा की जो जोत जलाई, उससे आज पूरा हिन्दुस्तान रोशन है। उम्मीद है, अफगानिस्तान की आने वाली नस्लें भी पश्ताना दुर्रानी को उसी अदब से याद करेंगी।

**वृद्ध पूंजीवाद के दौर में मोहब्बतः** राजनीति में मोहब्बत की दुकान खुले न खुले, उसमें मोहब्बत मिले न मिले, पर हिंदी साहित्य के इतिहास में मोहब्बत ही मोहब्बत रही है। ऐसा दावा करते हुए आप हिंदी साहित्य के इतिहास में दर्ज 'प्रेम काव्य' की महान परंपरा की लाख दुहाई दें और कहते रहें कि आदि कवि का पहला श्लोक ही एक मिथुनरत क्रौंच पक्षी के प्रेम के पक्ष में लिखा गया शिकायतनामा है- मां निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः... या आप" सिद्ध करते रहें कि हिंदी साहित्य का अतीत प्रेम का, इश्क का, मुहब्बत का महासागर है और उसने हमेशा प्रेमा पुमर्थों महान के गीत गाए हैं।

आप यह भी कह सकते हैं कि जयदेव से लेकर आधुनिक काल के एक बड़े हिस्से तक प्रेम रस ही साहित्य की मुख्यधारा रही है। वह कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, जायसी, कुतुबन, मंझन, रहीम, रसखान, घनानंद, बोधा आदि की कविताओं में छाया रहा है। फिर प्रसाद के आंसू व कामायनी ने, महादेवी के गीत और निराला-पंत आदि ने आधुनिक प्रेम कविताओं को संभव

किया और फिर बच्चन ने इस पार प्रिये तुम हो मधु है. उस पार न जाने क्या होगा और मधुशाला जैसे प्रेम काव्य दिए। इसी क्रम में नीरज ने प्रेमगीतों की गंगा बहाई और धर्मवीर भारती ने कनुप्रिया के साथ-साथ इन फिरोजी होठों पर बर्बाद मेरी जिदंगी जैसे ऐंद्रिक गीत लिखकर प्रेम काव्य को नए आयाम दिए, पर एक दिन इस प्रेम कविता को विचारधारा और आधुनिकतावाद की ऐसी नजर लगी कि प्रेम कविताओं की जगह अज्ञेय की कलगी बाजरे को ने ले ली। कवि बाजरे की कलगी रूपी 'मिस इंडिया' के छत्तीस-चौबीस-छत्तीस के हिसाब से उपमान खोजता रहा कि ये (पुराने) उपमान मैले हो गए हैं। इस चक्कर में प्रेम तो गया ही 'मिस इंडिया' भी हाथ से निकल गई। फिर अकविता ने 'जीभ और जांघ का चालू भूगोल' चलाकर हिंदी कविता को प्रेम के कोमल भाव से मुक्त कर दिया। प्रेम कविता या तो मंचीय हो गई या फिल्मी गीतों में रह गई। हिंदी की 'पॉपुलर कल्चर' में जो कुछ 'पॉप प्रेम' बचा, वह फिल्मी प्रेमकथाओं व गीतों के कारण बचा। हिंदी के प्रगतिशीलों ने प्रेम कविता सीधे प्रतिक्रियावादी खित्ते में डाल दिया!

हिंदी में ऐसे कई प्रगतिशील ब्रह्मचारी हुए, जिन्होंने प्रेम कविता को अपराध बना दिया। कइयों ने एक गांव में छोड़ी, दूसरी दिल्ली में की। वे 'फौरन' प्रेम कविता पर तो कुर्बान होते, लेकिन देसी प्रेम कविता को क्रांति विरोधी बताते। एक ओर विचारधारा की मार, दूसरी ओर कॉरपोरेट की डबल मार ऐसी कि प्रेम की जगह सेक्स ने ले ली और हालत यहां पहुंच गई कि यशेषणा का मारा या मारी कोई जब तक सेक्स

पर खुलकर बात न करे, तब तक कविता क्या और कहानी क्या?

वृद्ध पूंजीवाद के इस दौर में मोहब्बत या प्रेम या इश्क की यही परिणति होनी थी, क्योंकि आज 'हेट' ही 'मार्केट' की सुचालक है। इस मार्केट में बिकने वाले प्रेम का विखंडन करें या उसे जरा सा खुरचें, तो उसके नीचे 'हेट' निकलती है, लेकिन नफरत से कविता नहीं होती। घृणा कविता की दुश्मन है। इसलिए अच्छी कविता अब एक 'असंभावना है।

अगर कविता को संभव करना है, तो हे कवि! कविता में प्रेम रस को वापस लाओ। कविता को प्रेम की भाषा सिखाओं, नहीं तो कविता 'ईलू-ईलू' करती रह जाएगी और कोई न कोई हमें चुल्लू में उल्लू बनाता रहेगा। याद करें, ऐसे ही 'हेट' भरे में समय में कभी कबीर ने कहा था कि प्रेम खरीदने-बेचने की चीज नहीं, क्योंकि प्रेम न बाड़ी ऊपजे, प्रेम न हाट बिकाय ।। राजा परजा जेहि रुचै, सीस देई ले जाय !!

इसलिए मैं अभी भी इंतजार में हूं कि कोई आए, कविता में प्रेम रस बरसाए और सारी 'डेट' बह जाए, जो सबको बताए, 'हैट' आसान है, मगर ये इश्क नहीं आसां इतना ही समझ लीजे, 'इक आग का दरिया है और डूब के जाना है।

**सुधीश पचौरी हिंदी साहित्यकार**

**जमीनी बदलाव की वह राह जो राजावत ने दिखाईः**

एक ऐसे समय में, जब देश नए रहनुमाओं को चुन रहा है, जो आने वाले पांच वर्षों में लाखों गांवों पर असरंदाज होने वाली नीतियां बनाएंगे और मुल्क के भविष्य से जुड़े फैसले करेंगे, तब

एक नागरिक या मतदाता के मन में यह सवाल उठ सकता है कि अकेला सांसद, विधायक, पार्षद या सरपंच भला क्या कर सकता है? कितना ही बदलाव ला सकता है? छवि सिंह राजावत इन सवालों का जवाब हैं। राजस्थान के टोंक जिले में एक तहसील है मालपुरा, सोडा इसी का एक गांव है। इसी गांव से वाबस्ता एक संपन्न परिवार में 1977 में छवि का जन्म हुआ। हालांकि, वह पैदा जयपुर में हुईं, मगर अपनी जड़ों से खानदान के गहरे लगाव को देख उन्हें बचपन में ही सोडा का महत्व पता चल गया था। दादा ब्रिगेडियर रघुबीर सिंह राजावत भारत-पाक युद्ध में अपनी जांबाजी के लिए महावीर चक्र से नवाजे जा चुके थे। पूरे इलाके में उनकी बड़ी इज्जत थी। कारोबारी पिता नरेंद्र सिंह व मां हर्ष चौहान अपने सामाजिक कार्यों से उस प्रतिष्ठा को और विस्तार देते रहे।

छवि का बचपन सुविधाओं से पोषित रहा। हालांकि, जब वह मिडिल स्कूल में ही थीं, तभी दादी ने रवायत के मुताबिक उनकी शादी की बात छेड़ी थी, तब ब्रिगेडियर साहब ने पूरे परिवार को हुक्म सुना दिया कि 'छवि को तब तक शादी के लिए कोई परेशान नहीं करेगा, जब तक वह पढ़ना चाहती है।' काश! ऐसी प्रगतिशील सोच हर दादा की होती। इसके बाद आंध्र की ऋषि वैली स्कूल से जो सफर शुरू हुआ, वह अजमेर के मेयो व दिल्ली के लेडी श्रीराम कॉलेज होते हुए पुणे के प्रबंधन संस्थान आईआईएम जाकर पूरा हुआ, जहां से साल 2003 में छवि ने एमबीए की डिग्री हासिल की।

स्कूल ने यह सीख देकर अपना सच्चा धर्म निभाया कि कोई इंसान चाहे किसी भी पृष्ठभूमि का हो, वह सम्मान का

हकदार है, तो वहीं आईआईएमएम ने प्रगति के व्यवस्थित प्रयास का गहरा सबक सिखाया था। इसके बाद का रास्ता कॉरपोरेट दुनिया की ओर ले गया और छवि ने कई नामचीन कंपनियों में काम किया। मगर इस पूरे सफरनामे की सबसे खूबसूरत बात यही रही कि महानगरों की लकदक और चकाचौंध भरी दुनिया में भी सोडा गांव बराबर छवि के भीतर बना रहा। जब कभी भी पेशेवर दुनिया से मोहलत मिलती, वह भागकर बरास्ते जयपुर, सोडा पहुंच जाया करतीं।

दरअसल, अपने गांव से कैसा प्रेम होना चाहिए, छवि ने अपने फौजी दादा से यह जाना था। सेना के ऊंचे मुकाम से रिटायर होने के बाद ब्रिगेडियर साहब चाहते, तो जयपुर में एक आरामदेह जिंदगी गुजार सकते थे, मगर उन्होंने अपने पुरखों की माटी की सेवा की राह चुनी। वह दो बार सोडा के सरपंच मुंतखब हुए। छवि इस विरासत की जिम्मेदारी से कभी गाफिल नहीं थीं। जयपुर से सोडा के रास्ते में दूसरे गांवों से गुजरते हुए और कई गांवों को तरक्की के नए नजरिये के साथ आगे बढ़ते देखकर उन्हें लगता कि उनका सोडा पिछड़ गया है। गांव वाले भी अक्सर दुखड़ा रोते और ब्रिगेडियर साहब की सरपंची में हुए कामों को याद करते। यह बात छवि के मर्म को छू लेती थी। हालांकि, तब भी सियासत में उतरने या चुनाव लड़ने का कोई ख्याल उनके मन में नहीं आया था।

बात साल 2010 की है। राजस्थान सरकार ने पंचायती राज संस्थाओं में महिलाओं के लिए आरक्षण लागू कर दिया। संयोग से उनमें सोडा भी आरक्षित हो गया। उसी दौरान छवि जयपुर आईं, तो गांव के करीब 50 बड़े-बुजुर्गों ने उनके घर आकर उनसे गुजारिश की कि वह सरपंच का चुनाव लड़ें।

एक तरफ, कॉरपोरेट जगत की अनुशासित, आकर्षक और आरामदेह जीवनशैली थी, तो दूसरी ओर गांव की श्रमसाध्य जिंदगी। अपनी माटी से मोहब्बत और गांवों में काम करने की भरपूर गुंजाइश ने छवि को सोचने के लिए बाध्य कर दिया। छवि मान गईं। नौकरी छोड़ सरपंच के चुनाव मैदान में उतर पड़ीं और वह चुन भी ली गईं। देश की पहली एमबीए महिला सरपंच बनने के लिए राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय स्तर पर उनकी खूब चर्चा हुई। मगर चुनाव जीतना और जीतने के बाद जमीन पर बदलाव की बुनियाद रखना दो अलग-अलग चीजें हैं। जैसा कि अमूमन गांवों में होता है, सोडा में भी भू-अतिक्रमण की समस्या बहुत बड़ी थी। पहली ग्रामसभा में ही यह मुद्दा सामने आ गया। अनधिकृत रूप से दशकों से सरकारी भूमि पर काबिज लोगों को पीछे हटने के लिए राजी करना आसान काम नहीं था। इससे जुड़े महकमे तक हार मान चुके थे।

छवि ने अपने प्रबंधन कौशल का इस्तेमाल करते हुए कब्जेदारों को एक रोडमैप दिया कि आप जमीन खाली करेंगे, तो इससे गांव की सड़कें चौड़ी हो जाएंगी और कई सार्वजनिक निर्माण कार्य होंगे। इससे आप सबको ही नहीं, बल्कि आपके नाती-पोतों को भी सहूलियतें होंगी। नीयत नेक थी, योजनाएं जनहित की थीं, तो बात बन गई। छवि ने समझदारी से सहयोग की एक ऐसी इबारत लिखी कि साढ़े सात हजार की आबादी वाला सोडा गांव विकास की राह पर चल पड़ा।

साल 2010 से 2020 तक के दो कार्यकाल में छवि राजावत ने सोडा को कितना बदला, इसे इन आंकड़ों से आंकिए कि सरकारी व सामुदायिक सहयोग से ग्राम पंचायत के 800 घरों में शौचालय बने, इनमें पानी की पाइपलाइन पहुंचाई गई,

कई सारे तालाबों को सूखने से बचाया गया और साल भर तक गांव के उपयोग योग्य वर्षा जल के संग्रहण की शुरुआत हुई। पंचायत की छोटी-बड़ी करीब सौ सड़कें बनीं। गांव की महिलाओं के बैंक खाते खुले, उनको छोटी बचत के लिए प्रोत्साहित किया गया। सैकड़ों लड़कियां अब स्कूल में हैं। छवि अब सरपंच नहीं हैं, मगर वह घूम-घूमकर देश भर में लड़कियों को प्रेरित करती रहती हैं। छवि के दिखाए रास्ते पर चलते हुए अब कई उच्च शिक्षित लड़कियां स्थानीय निकाय का चुनाव लड़ने लगी हैं और कामयाब भी हो रही हैं।

**सेहतमंद बागवानी की राह दिखाता अनोखा गायकः** दक्षिण-पूर्वी एशिया का एक छोटा सा मुल्क है तिमोर-लेस्त । इसको पूर्वी तिमोर भी कहते हैं। चार सौ वर्षों तक पुर्तगालियों का उपनिवेश रहा तिमोर-लेस्त पिछली सदी के उत्तरार्द्ध में करीब ढाई दशकों तक इंडोनेशिया के कब्जे में भी रहा और एक लंबे खूनी संघर्ष व संयुक्त राष्ट्र के हस्तक्षेप के बाद इस सदी की शुरुआत (2002) में आजाद मुल्क की हैसियत से दुनिया के नक्शे पर अवतरित हुआ। यूजेनियो लेमोस इसी देश के एक किसान परिवार में पैदा हुए।

साल 1975 की बात है। लेमोस सिर्फ तीन साल के थे, जब इंडोनेशिया ने पूर्वी तिमोर पर हमला बोल दिया था। लेमोस का परिवार जान बचाने के लिए जंगल में भाग आया था। वहां जो कुछ मिल सकता था, उसी से भूख मिटानी पड़ती, मगर जब स्थिति असह्य होने लगी, तो पिता से देखा न गया। एक दिन वह वहां से परिवार को निकालने की राह तलाशने क्या निकले, इंडोनेशियाई फौजियों ने उनको दबोच लिया और उसके बाद उनका कोई पता नहीं चला। अजीब खौफनाक वक्त था। हर तरफ मौत ही मौत थी। जंगल में भूख लोगों को

निगलती जा रही थी और गांवों में आक्रांता फौजी खून की होली खेल रहे थे। लेमोस की छोटी बहन उसी वनवास में भूख से दम तोड़ गई। करीब तीन साल बाद एक 'सर्च ऑपरेशन' के दौरान जंगल में छिपे काफी लोग पकड़े गए और उन सबको राजधानी दिली ले आया गया था। लेमोस का परिवार भी उनमें एक था।

राजधानी आकर लगा, जैसे कोई तवील रात गुजरी है, मगर दुखों का सिलसिला अब भी नहीं थमा था। वर्षों से कंदमूल से ऊर्जा बटोर रहे शरीर ने जैसे प्रसंस्कृत अनाजों से बगावत कर दी थी। लेमोस का छोटा भाई आहार में हुए बदलाव के कारण डायरिया का शिकार हो गया। उसकी मौत से वह काफी आहत हुए थे। भला इससे दर्दनाक बचपन और क्या होगा ? छह साल की उम्र में तीन-तीन अपनों का वियोग ! मगर मां ने लेमोस को टूटने से बचा लिया। बेटे का पेट भरने के लिए वह काफी मशक्कत करतीं। आठ साल की उम्र में लेमोस की स्कूली शिक्षा शुरू हुई। शुरू में काफी दिक्कतें आईं, क्योंकि वहां इंडोनेशियाई भाषा में पढ़ाया जाता था और लेमोस को वह भाषा आती ही नहीं थी। वह पहली ही कक्षा में फेल हो गए। मगर जब मां का आशीष और संबल, दोनों हो तो संतान हीनता-ग्रंथि का शिकार कैसे हो पाती ? लेमोस ने न सिर्फ स्कूल की अपनी पढ़ाई पूरी की, बल्कि राजधानी की ही यूनिवर्सिटी से कृषि-शिक्षा की ऊंची डिग्री हासिल की।

यूनिवर्सिटी में पढ़ाई के दौरान ही उन्हें वनों की कटाई और खेती-किसानी में उर्वरकों के बढ़ते इस्तेमाल के खिलाफ सक्रिय एक आंदोलन से जुड़ने का मौका मिला। इस आंदोलन ने पर्यावरण-संरक्षण के प्रति उन्हें जागरूक बनाया। लेमोस देश की 40 प्रतिशत ग्रामीण आबादी की दयनीय हालत से वाकिफ

थे ही, अब यह बात भी अच्छी तरह समझ गए कि उन्होंने जिस कृषि पद्धति के बारे में पढ़ाई की है, वह उनके देश के छोटे किसानों के लिहाज से बिल्कुल सही नहीं है।

आजादी की दहलीज पर खड़े देश के लिए कुछ करने के जज्बे ने लेमोस को कृषि क्षेत्र में बदलाव लाने को प्रेरित किया। सुखद संयोग यह रहा कि साल 1999 में तिमोर-लेस्त जिस वक्त जनमत संग्रह के जरिये अपनी आजादी पर मुहर लगा रहा था, उसी समय ऑस्ट्रेलियाई 'पर्माकल्चरिस्ट' स्टीव ग्रांट से लेमोस की मुलाकात हुई। वह तिमोर में पर्माकल्चर के प्रशिक्षण के लिए आए थे। पर्माकल्चर टिकाऊ खेती की ऐसी पद्धति है, जिसमें रासायनिक उर्वरकों का बिल्कुल इस्तेमाल नहीं होता। लेमोस को लगा, यह तो उनका सांस्कृतिक मूल्य है। उन्होंने स्टीव ग्रांट से न सिर्फ इसका प्रशिक्षण लिया, बल्कि साल 2001 में 'पर्माटिल' नाम से एक संस्था बनाकर तीन कार्यक्रमों की शुरुआत भी कर दी युवा प्रशिक्षण कार्यक्रम, स्कूल उद्यान कार्यक्रम व जल एवं प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन कार्यक्रम। लेमोस के पास संसाधन तो था नहीं, लिहाजा वह पीठ पर गिटार टांगते और मोटरसाइकिल से निकल पड़ते युवाओं को अपने मूल्यों व पर्माकल्चर के बारे में समझाने।

शुरू-शुरू में सरकारी तंत्र और लोगों ने उनकी बातों की उपेक्षा की, मगर जब 2005 में उन्हें आयरिश सरकार ने वजीफा दिया और ऑस्ट्रेलिया की विक्टोरिया यूनिवर्सिटी ने अपने यहां सामुदायिक विकास की पढ़ाई करने के लिए स्कॉलरशिप दी, तो तिमोर सरकार ने भी लेमोस को गंभीरता से लेना शुरू किया। साल 2008 में जब उन्होंने पहला

पर्माकल्चर शिविर लगाया, तो देश भर से करीब 400 लोग आए। उसके बाद संख्या बढ़ती ही गई। इन शिविरों में लोगों को प्राकृतिक खाद बनाने, बीजों को संरक्षित करने, पौधों की नर्सरी तैयार करने, बाग लगाने, बांस और लकड़ी से आरामदेह घर बनाने की सीख दी जाती है। साल 2013 में वह दिली यूनिवर्सिटी में व्याख्याता नियुक्त हुए और उसके बाद तो उन्हें कई अहम सरकारी जिम्मेदारियां सौंपी गईं।

आज लेमोस की मुहिम की बदौलत इस छोटे से देश के सैकड़ों स्कूलों में बागवानी कार्यक्रम पाठ्यक्रम का अभिन्न हिस्सा है। देश भर में 1,000 से भी अधिक तालाबों में वर्षा-जल का संरक्षण होता है। 300 झरनों को सूखने के कगार से वापस लाया गया है। मगर इन सबके बीच लेमोस ने संगीत के प्रति अपने प्रेम को मरने नहीं दिया। उन्होंने इसके जरिये देश के लाखों युवाओं को अपनी संस्कृति से जोड़ा, उन्हें पर्यावरण-हितैषी बनाया है। लेमोस एक पुरस्कृत गायक, गीतकार व संगीतकार हैं। इस बहुमुखी प्रतिभा के धनी शख्स को 2023 के रेमोन मैगसायाय पुरस्कार से सम्मानित किया गया, तो समूचा तिमोर-लेस्त झूम उठा। इस धरती से भूख और दरिद्रता मिटाने के लिए यूजेनियो लेमोस का सीधा-सा मंत्र है- वही उपजाएं, जो आप खा सकें और वही खाएं, जो उपजा सकें!

**दुख अगर सबको मांजता है, तो इस डॉक्टर सा मांजेः**

आज़ादी के साढ़े सात दशक में हिन्दुस्तान ने कितनी तरक्की की है, इसे देखना है, तो गांवों में जाइए और किसी स्मृति-समृद्ध बुजुर्ग के पास बैठिए, तब आपको सन् 1947 से 2024 तक का

देश का सफर साफ-साफ दिखाई पड़ेगा। हिन्दुस्तान महानगरों और शहरों में ही नहीं, अपने साढ़े छह लाख से अधिक गांवों में भी खूब आबाद हुआ है। मगर इन गांवों की एक टीस पुरानी है। महानगरों और बड़े शहरों ने उनकी अनगिनत संतानों को अपने मोहपाश में यूं फांसा कि वे अपनी माटी का कर्ज उतारना भी भूल गये। मगर प्रदीप सेठी ने जिस तरह से अपनी माटी का कर्ज अदा किया है, उनका गांव पुश्त-दर-पुश्त इसके लिए उन पर नाज करेगा।

ओडिशा की राजधानी भुवनेश्वर से लगभग 150 किलोमीटर दूर एक गांव है बेरुनपदी। करीब 44 साल पहले इसी गांव के एक बेहद गरीब परिवार में प्रदीप पैदा हुए थे। तब ओडिशा देश के अति-पिछड़े राज्यों में शामिल था। जाहिर है, बेरुनपदी भी सड़क,बिजली,अस्पताल,साफ पानी जैसी बुनियादी सुविधाओं से कोसों दूर था। प्रदीप के परिवार की माली हालत ऐसी थी कि कई बार उन्हें फाकाकशी से गुजरना पड़ा। एक जोड़े कपड़े में कई-कई हफ्ते निकालने पड़ते। मगर यह नियति अकेले उन्हीं के परिवार की नहीं थी। ऐसे में, सभी अभावग्रस्त परिवार एक-दूसरे को सब्र और उम्मीद की डोर थमाते रहते। राहत की बात बस इतनी थी कि 1955 से गांव में बच्चों के लिए एक स्कूल की सुविधा थी और प्रदीप के पिता ने घनघोर गरीबी के बावजूद बेटे को कभी पढ़ने-लिखने से नहीं रोका। अलबत्ता, उन्हें कई बार स्कूल से छुट्टी करनी पड़ती, क्योंकि मजदूर पिता कभी गाय चराने, तो कभी खेतों से घास छील लाने की जिम्मेदारी सौंप जाते थे। इन सब व्यवधानों के बावजूद प्रदीप की पढ़ने में रुचि गहराती गई थी।

करीब बारह साल की उम्र में वह जिस सरकारी स्कूल में पढ़ने गए, वह अंग्रेजी-हिंदी माध्यम का स्कूल था। इससे पहले तो वह सिर्फ उड़िया सुनते-बोलते आए थे। पहली बार यहां उनका हिंदी और अंग्रेजी से परिचय हुआ। शुरू-शुरू मे वह कुछ हिचके, थोड़े झेपे, लेकिन सीखने और आगे बढ़ने की चाह ने उनका रास्ता आसान कर दिया। बहुत जल्द ही शिक्षकों की नजरों में प्रदीप की मेधा आ गई। उन्होंने उन्हें भरपूर प्रोत्साहन दिया। फिर क्या था, छात्र की लगन और शिक्षकों के सहयोग ने एक गरीब बच्चे के दिन बदल दिए। 10वीं और 12वीं की बोर्ड परीक्षाओं में प्रदीप बहुत अच्छे अंकों के साथ उत्तीर्ण हुए।

दसवीं के बाद से ही उनके मन में डॉक्टर बनने की इच्छा पलने लगी थी, मगर मेडिकल की पढ़ाई का खर्च उठाना उनके परिवार के लिए आसान न था। प्रदीप ने अपनी पढ़ाई-लिखाई से पिता को गौरव के कई पल दिए थे। इसलिए जो भी थोड़ी सी जमीन उनके पास थी, बेटे की मेडिकल फीस जुटाने के लिए उन्होंने उसे दांव पर लगा दिया। परिवार के इस त्याग से प्रदीप मर्माहत तो थे, पर अपने भविष्य को लेकर वह आशान्वित भी कम न थे। वह परिवार की तकलीफ और संघर्ष में बराबर शरीक रहे। उनके पास जो भी खाली वक्त होता, वह उसमें किसी न किसी किस्म की दैनिक मजदूरी करते।

एक ऐसा मोड़ भी आया, जब सारी कोशिशों के बावजूद चीजें मुश्किल होने लगीं और बात उनकी झोंपड़ी से निकलकर गांव के चबूतरे पर आ गई। तब गांव के कुछ समर्थ लोगों ने बड़प्पन दिखाया और वजीफे के तौर पर उन्होंने प्रदीप की लगातार मदद की। प्रदीप को हर महीने एक तय राशि मिलने लगी थी, जिनसे वह अपनी किताबें खरीदते और

हॉस्टल मेस की फीस चुकाते। अब लक्ष्य सिर्फ एमबीबीएस की डिग्री थी। वह जी-जान से जुट गए। साल 2004 में एमबीबीएस की डिग्री लेने के बाद उन्हें मास्टर्स कोर्स के लिए देश के प्रतिष्ठित 'अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान' में दाखिला मिल गया, जहां से उन्होंने 'हेयर ट्रांसप्लांट सर्जरी' के गुर सीखे। जाहिर है, यह ऐसा चिकित्सा क्षेत्र है, जो अकादमिक शोध या अपने सौंदर्य को लेकर सजग दौलतमंदों से ज्यादा जुड़ा है। लिहाजा, प्रदीप के पास प्रस्तावों और मरीजों की कोई कमी नहीं रही। पैसे तो खैर आने ही थे। उनके पास दुबई में क्लिनिक खोलने तक का बेहद रोचक प्रस्ताव आया, मगर उसी समय उन्हें आध्यात्मिक गुरु परमहंस योगानंद जी की यह पंक्ति याद आ गई- 'हर मनुष्य के जीवन का एक बड़ा मकसद होता है।'

नौजवान प्रदीप के जीवन का मकसद सिर्फ दौलत कमाना नहीं था। वह अपनी जड़ों की ओर मुड़े। कैंसरग्रस्त पिता की दिली तमन्ना थी कि गांव में उनका एक घर होना चाहिए। प्रदीन ने घर की तामीर कराई, मगर उसके बनने के चंद महीनों बाद ही पिता इस दुनिया से कूच कर गए। उनके जाने के बाद प्रदीप ने साल 2016 में उस घर को एक कोचिंग सेंटर में तब्दील कर दिया, ताकि गांव व आस-पास के बच्चे वहां आकर गणित और अंग्रेजी सीख सकें। इसके लिए बाकायदा प्रशिक्षित शिक्षक रखे गए थे।

सैकड़ों बच्चों की जिंदगी में इस एक कोचिंग सेंटर से आई तब्दीली देख डॉ प्रदीप को गहरा सुकून मिला। अब उन्होंने गांव में एक ऐसा स्कूल खोलने का फैसला किया, जो गरीब

बच्चों को अंतरराष्ट्रीय स्तर की शिक्षा निःशुल्क दे सके। उन्होंने गांव की उसी जमीन पर स्कूल बनाने की शुरुआत की, जहां कभी दैनिक मजदूरी की थी। गांव वालों ने अपने सपूत का चढ़-चढ़कर साथ दिया। कई लोगों ने स्कूल के लिए अपनी-अपनी जमीनें दान में दीं। करीब दस एकड़ में पिछले साल अप्रैल में उत्कल गौरव इंटरनेशनल स्कूल वजूद में आ गया। फिलहाल इसमें 450 बच्चे पढ़ रहे हैं, मगर इसकी क्षमता 2,500 बच्चों को 12वीं तक उच्च-स्तरीय शिक्षा देने की है। डॉ प्रदीप सेठी आगे अन्य इलाकों में भी स्कूल खोलेंगे, मगर बेरुनपदी का कर्ज उन्होंने अदा कर दिया!

**पाकिस्तान को एक अलग पहचान देती सानियाः** इस्लामी मुल्कों में औरतों के हक-हुकूक को लेकर दुनिया भर में तरह-तरह की सच्ची-झूठी कहानियां कही-सुनी गई। दुर्योग से तालिबान, बोको हराम और आईएस की ज्यादतियों और ईरानी निजाम की दमनकारी नीतियों ने मुस्लिम देशों की औरतों की उपलब्धियों को नेपथ्य में डाल दिया। दुनिया भर में उनकी छवि एक मजलूम व दबाई-सताई गई आबादी के रूप में मजबूत होती गई। मगर सलाम है उन औरतों को, जो न सिर्फ अपने-अपने मुल्क के कट्टरपंथियों का मुकाबला करती रही है, समाज में बेहतर मुकाम पाने के लिए संघर्षरत है, बल्कि अपनी जेहनियत से पश्चिमी मीडिया की गलतफहमियां भी दूर कर रही है। सानिया निश्तर एक ऐसा ही नाम है, जो न सिर्फ पाकिस्तान की पहली महिला हृदय रोग विशेषज्ञ है, बल्कि हाल ही में गरीब मुल्कों में टीकाकरण कार्यक्रम से जुड़ी प्रतिष्ठित अंतरराष्ट्रीय संस्था 'गैवी' की सीईओ नियुक्त की गई हैं।

करीब 61 साल पहले पेशावर के एक संपन्न परिवार में जन्मी सानिया के पिता सैयद हामिद खुद भी डॉक्टर थे। तरक्कीपसंद माता-पिता की बेटी सानिया को उस जमाने में वे सारी सहूलियतें हासिल थीं, जो आज भी कई संपन्न घरों के बच्चों को नसीब नहीं। वह स्विमिंग कर सकती थीं, गोल्फ खेल सकती थीं, मुकाबलों में शिरकत कर सकती थीं और मुल्क से बाहर पढ़ने के ख्वाब संजो सकती थीं। बचपन से पिता ने बेटी को बस यही सीख दी कि जो भी काम करो, उसको करते हुए तुम्हारी शिद्दत और ईमानदारी में कोई कभी न रहने पाए। वह अक्सर सानिया से कहते बेटी, जिंदगी ऐसी होनी चाहिए, जो दूसरे के जीवन में कुछ फर्क ला सके। जो आपसे कम खुशकिस्मत लोग हैं, उन्हें आराम और सुकून देना ऊपर वाले का सबसे पसंदीदा अमल है।

इन फलसफों का मर्म सानिया को तब समझ में आया, जब एक दिन अचानक डॉक्टर हामिद सबको अलविदा कह गए। वह उस वक्त महज 15 साल की थीं। पिता की मौत से गहरा सदमा लगा था. मगर जीने का मकसद तो वह सानिया को दे ही गए थे। वह अपनी पढ़ाई में पूरी शिद्दत से जुट गई। एक अर्थवान जीवन की चाह उन्हें पेशावर के खैबर मेडिकल कॉलेज ले गई, जहां से 1986 में उन्होंने मेडिकल की डिग्री हासिल की। कॉलेज से निकलते ही अपने बैच की गोल्ड मेडलिस्ट डॉक्टर सानिया के लिए रिश्तों की कतार लग गई थी। 23 साल की सानिया ने गालिब निश्तर के प्रस्ताव पर अपनी रजामंदी दे दी।

शादी के बाद अगले छह साल परिवार और दोनों बच्चों के नाम रहे। इसके बाद सानिया ने खैबर टीचिंग हॉस्पिटल से

अपनी रेजिडेंसी पूरी की और साल 1994 में बतौर हृदय रोग विशेषज्ञ 'पाकिस्तान इंस्टीट्यूट ऑफ मेडिकल साइंस' से जुड़ गईं। लोगों का इलाज करते हुए सानिया का यह एहसास पुख्ता होता गया कि स्वास्थ्य क्षेत्र में यहां बहुत कुछ करने की जरूरत है। अस्पतालों और संसाधनों की कमी के अलावा सेहत के प्रति लोगों की लापरवाही भी एक बड़ा मसला है। सानिया यह भी अच्छी तरह जान गई थीं कि सिर्फ एक अस्पताल तक महदूद रहकर वह गरीब मरीजों के हक में बड़ा बदलाव कभी नहीं ला सकेंगी। इसीलिए उन्होंने साल 1998 में एक गैर-लाभकारी संगठन 'हार्टफाइल' की शुरुआत की। इसका मकसद लोगों में हृदय रोग संबंधी जागरूकता फैलाने के अलावा सार्वजनिक स्वास्थ्य नीतियों के बारे में सरकार को सलाह देना भी था।

संयोग से कुछ ही वर्षों में सानिया को लंदन के किंग्स कॉलेज से पीएचडी करने का मौका मिला और इस डिग्री ने इस्लामाबाद में उनके सुझावों की अहमियत बढ़ा दी थी। अपने एनजीओ के तहत काम करते हुए उन्हें पता चला कि पाकिस्तान सरकार के पास संक्रामक रोगों की रोकथाम के लिए तो नीतियां है, मगर पुराने रोगों के उपचार के लिए कोई कार्यक्रम नहीं है। जाहिर है, इसके सबसे ज्यादा शिकार गरीब मरीज ही हो रहे थे। लिहाजा, सानिया ने अपने संगठन के जरिये सरकार पर इसकी खातिर दबाव बनाना शुरू कर दिया। उन्हें कामयाबी मिली और साल 2003 में पाकिस्तान सरकार ने गैर-संक्रामक रोगों के उपचार से जुड़ी एक राष्ट्रीय योजना विकसित करने में उनका सहयोग मांगा। सानिया की प्रतिबद्धता को देखते हुए जेनेवा स्थिति वल्ड हार्ट फेडरेशन, डब्ल्यूएचओ जैसी शीर्ष वैश्विक संस्थाओं ने उन्हें अपने बोर्ड या

कार्यक्रमों में शामिल किया। वह एक विश्व स्वास्थ्य कार्यकर्ता बन गई। साल 2013 में सानिया निश्तर की जिंदगी में एक अहम मोड़ तब आया, जब आम चुनाव से पहले कार्यवाहक सरकार का गठन हुआ। कार्यवाहक प्रधानमंत्री मीर हजार खान खोसो ने उन्हें अपनी काबीना में शामिल किया। सानिया के पास विज्ञान व प्रौद्योगिकी, शिक्षा व प्रशिक्षण और स्वास्थ्य मंत्रालय आया।

इस हैसियत ने उनके तजुर्बे में काफी इजाफा किया। लिहाजा, साल 2019 में वह इमरान खान की पार्टी पाकिस्तान तहरीक-ए-इंसाफ से जुड़ गई। इमरान खान सरकार ने जय पाकिस्तान में गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम 'एहसास' की शुरुआत की, तो इसकी निगहबानी के लिए उसे सानिया ही सबसे मुफीद लगीं। इस कार्यक्रम को दुनिया भर में सराहा गया था। पाकिस्तान सरकार उन्हें प्रतिष्ठित नागरिक सम्मान 'सितारा ए-इम्तियाज' से पहले ही नवाज चुकी थी, बीबीसी ने साल 2020 की 100 प्रभावशाली वैश्विक महिलाओं में शुमार किया। मार्च 2021 में पार्टी ने सानिया को खैबर पख्तूनख्वा संसदीय क्षेत्र से सीनेट में भेजा।

पेशावर से निकलकर दुनिया भर में पाकिस्तान का नाम रोशन करने वाली सानिया आज न सिर्फ अपने मुल्क, बल्कि उन तमाम इस्लामी देशों की बेटियों के लिए एक रोल मॉडल हैं, जो अपनी जिंदगी को सार्थक बनाना चाहती हैं।

**जरूरतमंदों को कपड़ा बांटने की मुहिम से जुटा नौजवानः** एक सफल-सुखद जीवन को किन कसौटियों पर कसा जाता है? स्नेह से सराबोर बचपन, अच्छी तालीम, मनचाही

नौकरी, हमख्याल जीवनसाथी और फरमाबदरदार औलाद ! मगर एक मानीखेज जिंदगी आपसे कुछ अलग मांगती है। वह परखती है कि आप दूसरों के कितने काम आए? इस दुनिया को कुछ और बेहतर बनाने में आपने क्या योगदान दिया? यही सार्थकता यहां से जाने के बाद भी इंसान को जिंदा रखती है। इसके लिए किसी ऊंचे ओहदे पर या सियासतदान होना लाजिम नहीं है, बस ऐसी जिंदगी की कामना होनी चाहिए। नौजवान साजन वीर अबरोल इसकी एक और मिसाल हैं।

करीब 32 साल के साजन की परवरिश गुरुग्राम के एक संपन्न परिवार में हुई। साल 2001 की बात है। साजन उस समय नौ साल के रहे होंगे। 26 जनवरी की सुबह गुजरात के भुज में आए भीषण भूकंप ने भारी तबाही मचाई थी। करीब बीस हजार लोग मारे गए थे। लाखों बेघर हो गए। अपने हमवतनों की पीड़ा देख पूरा हिन्दुस्तान कराह उठा था। हर तरफ से भूकंप पीड़ितों की मदद के लिए हाथ बढ़ आए। साजन को भी स्कूल से एक परचा मिला, जिसमें अपील की गई थी, जिस चीज की भी मदद कर सकते हो, जरूर कीजिए। स्कूल में एकत्र राहत सामग्री को बड़े-बड़े कार्टन में पैक किया गया था, ताकि उनको भुज भेजा जा सके। एक दिन साजन ने दो शिक्षकों को आपस में बातें करते सुना कि काश! ये सामान वास्तविक पीड़ितों तक पहुंच जाएं। यह एक वाक्य बालक साजन के दिमाग में कहीं अटक गया था।

साल 2006 में वह गुरुग्राम के हेरिटेज स्कूल में आ गए थे। उन्हीं दिनों उन्हें सोशल मीडिया नेटवर्क 'ऑर्कुट' और 'हाई 5' के बारे में पता चला और इनके जरिये वह दोस्तों से खूब

बातें करते। बाद में साजन ने फेसबुक को अपना माध्यम बनाया। साल 2010 में हाई स्कूल की पढ़ाई पूरी करने के बाद वह गुरु गोविंद सिंह इंद्रप्रस्थ यूनिवर्सिटी आ गए। इस दौरान ही उन्होंने गहराई से महसूस किया कि फेसबुक को सिर्फ चैटिंग के लिए नहीं, बल्कि डिजिटल मार्केटिंग के लिए भी लोग बखूबी इस्तेमाल कर रहे हैं।

साल 2013 की बात है। साजन उस वक्त अपने ग्रेजुएशन के आखिरी हिस्से में थे। जून 2013 में उत्तराखंड में आई भयंकर बाढ़ ने साढ़े पांच हजार से भी अधिक जिंदगियां लील ली थीं। गांव के गांव बह गए थे। सरकार ने बाढ़ पीड़ितों के खाने-पीने व रहने की व्यवस्था तो की थी, मगर साजन ने महसूस किया कि उन हतभागी लोगों की एक और जरूरत है, जिसकी तरफ किसी का ध्यान नहीं जा रहा, और वह है कपड़ा। पीड़ितों के सारे कपड़े भी तो दरिया में चले गए थे। मगर एक जिम्मेदार नौजवान के तौर पर साजन का यह मानना था कि हर चीज के लिए हमें सरकार से उम्मीद नहीं बांधनी चाहिए। वह अपने तईं कुछ करना चाहते थे। मगर कैसे करें, समझ में नहीं आ रहा था।

इसी दौरान एक दिन घर के बाहर अपनी ही कद-काठी का सफाईकर्मी सड़क बुहारता दिखा, जो महज बनियान में था। साजन ने उसे अपनी एक शर्ट देते हुए कहा- भैया, इसको पहन लो ! उस सफाईकर्मी के चेहरे पर पसरी मुस्कान ने साजन के मर्म को छू लिया था। उन्होंने उसकी एक तस्वीर ली और उससे पूछा, क्या मैं इसे फेसबुक पर डाल सकता हूं? उसे भला क्या ऐतराज होता? साजन ने अपने फेसबुक पेज पर यह

तस्वीर डाली और उसे पिता को टैग कर दिया। पिता के दोस्तों व नाते-रिश्तेदारों के जरिये वह तस्वीर एक बड़ी पहल की बुनियाद बन गई। एक दिन माता-पिता कहीं गए थे, उनकी गैर-मौजूदगी में साजन ने अपने सारे पुराने कपड़े निकाले और उनको आस-पास के जरूरतमंदों में बांट दिया।

अक्तूबर 2013 में 21 वर्षीय साजन सॉफ्टबैंक में कम्युनिटी मैनेजर बन चुके थे। छह माह बाद ही अमेरिकन एक्सप्रेस में और अच्छा मौका मिल गया। मगर मन में परोपकार का जो बीज अंकुरित हुआ था, वह लहलहाने को ठांठें मारने लगा था। वह हर सप्ताहांत में दोस्तों व रिश्तेदारों से कपड़े एकत्र करने और जरूरतमंदों में बांटने लगे। फरवरी 2014 में साजन ने एक गैर-लाभकारी संगठन 'क्लॉथ बॉक्स फाउंडेशन' की नींव रखी। मगर स्कूल के दो शिक्षकों की उस चिंता ने उन्हें हमेशा सजग बनाए रखा कि असली जरूरतमंदों तक मदद पहुंचनी चाहिए। इसलिए सोशल मीडिया की ताकत से वाकिफ साजन ने इस संस्था के जरिये कपड़ा वितरण की सारी तस्वीर संगठन के फेसबुक पेज पर अपलोड करना शुरू कर दिया, ताकि दानदाताओं को इत्मीनान रहे।

इस मुहिम का एक खूबसूरत पहलू यह भी है कि साजन और उनके साथी इस कार्य के जरिये देश में सांप्रदायिक-सामाजिक भाईचारे को भी बढ़ावा दे रहे हैं। किसी हिंदू मां या बहन की साड़ी किसी गैर-हिंदू गरीब के काम आ रही है, तो किसी मुस्लिम, सिख या ईसाई ईसाई के कपड़े किसी हिंदू का बदन ढक रहे हैं। वैसे भी, गरीबी का कोई धर्म कहां होता है? साजन अब तक सात लाख किलो से भी अधिक पुराने कपड़ों से बैग और कंबल-लिहाफ बनवाकर गरीबों में बांट चुके हैं।

जाहिर है, उनके इस काम को देश-दुनिया ने सराहा है। एक टीवी कार्यक्रम की पहल पर अमिताभ बच्चन खुद साजन के अभियान से जुड़े और अपने पुराने कपड़ों को जरूरतमंदों के बीच बांटा। मार्क जकरबर्ग ने भी साजन के इस प्रयास की काफी सराहना की। पुराने कपड़ों को फिर से इस्तेमाल करने योग्य बनाने और पर्यावरण संरक्षण के लिए फोर्ब्स ने उन्हें '30 अंडर 30, एशिया' की सूची में शुमार किया था, तो भारत सरकार भी उनको राष्ट्रीय युवा पुरस्कार से सम्मानित कर चुकी है। जिस उम्र के अनगिनत नौजवान अपने बुनियादी नागरिक फर्ज तक नहीं निभा पा रहे, साजन वीर अबरोल एक लैंपपोस्ट की तरह उन्हें राह दिखा रहे है।

**आखिर किनके गुनाहों की सजा भोगते हैं ये बच्चेः** शरणार्थी शिविरों में टूटी-सहमी जिंदगियों को कभी आपने करीब से देखा है? उनमें रहने वाले उन बेकसूर बच्चों की आंखों में कभी झांका है, जिनसे उनकी जिंदगी के सबसे हसीन, बेफिक्री के दिन छीन लिए गए? या कभी उन मासूमों से यह सवाल करने की हिम्मत जुटाई है कि उनसे उनका बचपन छीनकर जब उनके हाथों को हथियार थमाए गए थे, तब कैसा लगा था ? इमानुएल जाल ने इन सबको भोगा-सहा है। साल 2009 में आई उनकी आत्मकथा वार चाइल्ड... एक दर्दनाक महागाथा है, जो काफी चर्चित भी हुई।

आज से करीब 40 साल पहले सूडान (अब दक्षिण सूडान) के एक छोटे से गांव 'तोज' में जाल पैदा हुए। जिस कबाइली समाज से वह आते हैं, उसके पिछड़ेपन का अंदाज

इसी से लगता है कि जाल को यह तक नहीं पता था कि उनकी पैदाइश किस तारीख को हुई, लिहाजा उन्होंने खुद ही 1 जनवरी की तारीख तय कर ली। सूडान आज भी दुनिया के नाकाम मुल्कों में पहली कतार में शामिल है, तब तो वहां दूसरा गृह युद्ध भी छिड़ चुका था। जाल महज पांच साल के थे, उन्होंने अपनी आंखों के आगे अपने गांव को धधकते देखा। गांव ही तो उन जैसे बच्चों की पूरी दुनिया होती है, मगर बागी गुटों ने उनकी दुनिया को आग लगा दी थी। इतना ही नहीं, दरिंदों ने उनकी आंखों के सामने एक करीबी रिश्तेदार का बलात्कार भी किया।

वहशत भरे उस वक्त में एक-एक दिन काटना दुश्वार था। लोग रोज मारे जा रहे थे। मां हर दूसरे तीसरे दिन किसी न किसी निकट संबंधी की मौत पर विलाप करती थीं। हिंसा का कोई अंत नहीं दिख रहा था। जाल जब सात साल के हुए, इस गृह युद्ध ने उनकी मां की जान ले ली। उन्हें सरकार समर्थक लड़ाकों ने ही मार डाला था। इस बात ने उनके भीतर एक ऐसी टीस पैदा की कि अपने पिता से उनके ताल्लुकात कभी सहज नहीं हुए। दरअसल, जाल के पिता उन दिनों मुल्क की फौज सुडान पीपुल्स लिबरेशन आर्मी (एसपीएलए) का ही हिस्सा थे। उस दौर का आलम यह था कि सब अपनी जान बचाकर इधर-उधर भाग रहे थे और इसी आपा-धापी में जाल के भाई-बहन भी उनसे बिछड़ गए। परिवार के परिवार बिखर गए थे। पनाहगाहों में कोई पराया नहीं होता। जाल को पता चला कि कई बच्चे इथियोपिया ले जाए जा रहे हैं, ताकि वहां उन्हें सुकून से जीने या पढ़ने का मौका मिल सके। सूडान में जाल के लिए वैसे भी क्या बचा था, वह भी उस काफिले में शामिल हो गए।

मगर वह काफिला मंजिल पर पहुंचता, उसके पहले ही जाल और उन जैसे बच्चों को सरकारी फौज में शामिल करने के लिए ट्रेनिंग शिविर पहुंचा दिया गया।

जाल तब सिर्फ आठ साल साल के थे। उन्हें तो यह भी नहीं पता था कि युद्ध किसलिए होता है? मगर बदले की एक भावना उनके अंदर खदबदा रही थी। प्रशिक्षण शिविर में पहुंचते ही जाल ने ट्रेनिंग ऑफिसर से कहा, जितना मुमकिन हुआ, वह उतने अधिक मुसलमानों व अरबों को मारेंगे। प्रशिक्षण आसान नहीं था, मगर वह अपने परिवार व गांव के उजड़ने का बदला लेना चाहते थे। तीन वर्षों तक जाल और दूसरे किशोर हथियार चलाते रहे, मगर आहिस्ता आहिस्ता उन्हें इस सच का इलहाम हो ही गया कि हमें मुस्लिम या अरब नहीं मार रहे, बल्कि कोई और है, जो किसी दूसरी जगह बैठकर पूरे सिस्टम को संचालित करने के लिए मजहब का और हमारा इस्तेमाल कर रहा है। उसे तेल. हीरा, सोना व जमीन चाहिए।

इस सच को जानने के बाद जाल अपने हमउम्र साथियों के साथ भाग खड़े हुए। वे लगभग 400 बाल सैनिक थे, जो अगले तीन महीने तक भागते रहे। मौत हर कदम पर उनकी संख्या कम करती गई और आखिरकार जब ये बात शहर पहुंचे, तब महज 16 रह बचे थे। 11-12 साल के ये बच्चे किनके गुनाहों की सजा भोग गए? दुनिया को इससे कोई फर्क नहीं पड़ा। जाल को यह बात बुरी तरह सताने लगी थी। वात शहर में उनकी मुलाकात एक ब्रिटिश राहतकर्मी एम्मा मैक्यून से हुई। एम्मा ने जाल को बहुत समझाया कि तुम अभी महज 11

साल के हो, तुम्हारी उम्र फौजी बनने की नहीं। एम्मा ने न सिर्फ उन्हें गोद लिया, बल्कि उन्हें छिप-छिपाकर केन्या ले आई।

नैरोबी के ब्रुकहाउस इंटरनेशनल स्कूल ने एक किशोर फौजी को नए सिरे से गढ़ना शुरू किया। मगर किस्मत ने फिर दगा दिया। एम्मा एक सड़क दुर्घटना में मारी गईं और उनके पति को यह गवारा न था कि जाल उनके साथ रहें। जाल को एक मलिन बस्ती में शरण लेनी पड़ी। मगर एम्मा के दो दोस्तों ने जाल को अपनी पढ़ाई जारी रखने में भरपूर मदद की। कॉलेज में पढ़ते हुए ही उन्होंने अपनी जिंदगी के दर्द को कागज पर उतारना शुरू किया। यह उसे कभी-कभी गाने भी लगे थे। जाल ने पाया कि हिप-हॉप शैली में गजब की रूहानी-राजनीतिक ताकत है। उन्होंने अपने गुजरे जीवन को आवाज क्या दी, वह केन्याई लोगों के दिल में उतरते चले गए।

धीर-धीरे जाल ने अपने गायन के जरिये लावारिस बच्चों के लिए धन एकत्र करना शुरू किया। फिर उनका एल्बम आया ऑल वी नीड इज जीसस। यह केन्या में तो हिट रहा ही. ब्रिटेन में भी खूब पसंद किया गया। उसके बाद फिर जाल ने पीछे मुड़कर नहीं देखा। अब तक उनके 15 म्यूजिक एल्बम आ चुके हैं, उन्होंने कई फिल्मों में काम किया है और उनकी आत्मकथा ने उन्हें दुनिया भर में मानवाधिकारों व बाल अधिकारों के प्रवक्ता के रूप में स्थापित कर दिया है। बेसहारा बच्चों के कल्याण से वाबस्ता कई कार्यक्रमों से वह जुड़े हैं। अरबों की दौलत और शोहरत के मालिक इमानुएल जाल अब दुनिया भर में, खासकर अफ्रीकी देशों में घूम-घूमकर बाल अधिकारों के प्रति जागरूकता फैलाने और शिक्षा में निवेश का अलख जगा रहे हैं।

**जिनको अपनों ने ठुकरा दिया उन्हें मंगल ताई ने अपना लियाः** आखिर उनका कसूर क्या था? वे तो दुनिया के ऊंच-नीच और सिस्टम की लापरवाही से बिल्कुल अनजान थे। फिर उनके हिस्से में इतनी हिकारत क्यों आई? अपनों ने ही उन्हें ठुकरा दिया, एक जांच रिपोर्ट के आते ही खून के सारे रिश्ते उनके लिए बेमानी हो गए। मगर कुदरत का निजाम इस धरती पर किसी को बेआसरा नहीं छोड़ता। अपनी कुछ संतानों के दिल में वह इतनी करुणा अवश्य डाल देता है कि धरती के अनाथ, परित्यक्त मासूमों को स्नेह की छांव मिल जाए। मंगल ताई ईश्वर की एक ऐसी ही खास संतान हैं। जमाना उनको ताई (मराठी में बड़ी बहन) कहता है, पर वह 150 एचआईवी संक्रमित बच्चों की सच्ची आई (मां) हैं।

महाराष्ट्र के सोलापुर जिले में एक तालुका है बार्शी, मंगल ताई इसी तालुके के एक मध्यवर्गीय किसान परिवार में, 72 साल पहले पैदा हुई। यह वह दौर था, जब आजाद भारत का अपना संविधान लागू हुआ था और उसने मौलिक अधिकारों के जरिये एक झटके में औरत-मर्द के बीच की सदियों पुरानी दूरी पाट दी थी। इसके बाद स्त्रियों, खासकर मराठी महिलाओं में जागृति की एक नई चेतना आई। उस वक्त देश में साक्षरता दर 19 फीसदी के करीब थी, बल्कि महिलाओं के मामले में तो इसने दहाई का आंकड़ा भी पार नहीं किया था। मंगल की माँ उन्हें ज्ञान हासिल करने के लिए खूब प्रोत्साहित करतीं। लिहाजा, किशोरावस्था तक पहुंचते-पहुंचते वह काफी कुछ पढ़ चुकी थीं, जिनमें विवेकानंद, मदर टेरेसा और बाबा आम्टे की सेवाओं से जुड़े लेखन भी शामिल थे।

इन मानव-दूतों की सेवाओं ने छोटी उम्र में ही मंगल को बहुत प्रभावित किया था। मगर सामाजिक दस्तूर के मुताबिक 16 साल की उम्र में ही उनका ब्याह कर दिया गया। यह पंढरपुर आ गई। जिंदगी अचानक बदल गई थी। कुछ ही वर्षों में बेटी डिंपल भी गोद में आ गई। गृहस्थी की जिम्मेदारियां निपटाने के बाद परिवार की दूसरी स्त्रियां पूजा-पाठ में व्यस्त हो जातीं, मगर मंगल का मन इसमें बहुत ज्यादा नहीं लगता था। वह किसी जरूरतमंद की मदद करने को लेकर ज्यादा उत्सुक रहतीं। चाह थी, तो राह भी मिली। घर से करीब ही एक सरकारी अस्पताल में दिव्यांगों की सेवा करने की अनुमति मिल गई और कुछ ही महीनों में मंगल उस अस्पताल में भर्ती असहाय गर्भवती महिलाओं को घर का खाना मुहैया कराने लगी थीं। इन लोगों की सेवा करके उन्हें एक अजीब किस्म का सुकून मिलता था। इसलिए जब डिंपल दस साल की हुई, तो वह उन्हें भी अपने साथ ले जाने लगीं। मंगल ने महसूस किया कि कुछ गर्भवती महिलाओं के साथ अस्पताल का रवैया बेहद अपमानजनक, बल्कि अमानवीय होता है। कारण पता किया, तो मालूम हुआ कि वे एचआईवी संक्रमित हैं। मंगल को बहुत दुख हुआ। वे महिलाएं दोहरी मार झेल रही थीं- एक तरफ, अनकरीब मौत का खौफ था, तो दूसरी ओर, सामाजिक दुत्कार का दंश, मंगल ने उसी समय फैसला किया कि वह जिले की महिला यौनकर्मियों के बीच एचआईवी/एड्स को लेकर जागरूकता पैदा करेंगी, ताकि वे इसके संक्रमण से बच पाएं। साल 2001 की बात है। मंगल अपनी बेटी के साथ पंढरपुर के रेडलाइट एरिया में यौनकर्मियों को एचआईवी/एड्स के बारे में आगाह कर रही थीं, तभी किसी ने आकर बताया कि पड़ोस के

गांव में डेढ़ और ढाई साल की दो बच्चियों को कोई गौशाला में छोड़ गया। मां-बेटी फौरन वहां पहुंची, तो पता चला कि इन बच्चियों के माता-पिता की एड्स से मौत हो गई है और कोई रक्त-संबंधी अब इनको अपने साथ नहीं रखना चाहता, क्योंकि उन्हें सामाजिक बदनामी के साथ-साथ संक्रमण का भी खतरा है।

मंगल ने गांव वालों से इन मासूमों की देखभाल करने की गुजारिश की, पर कोई तैयार नहीं हुआ। आखिरकार वह उन दोनों बच्चियों को अपने साथ ले आई। उन्हें नहलाया, खाना खिलाया और फिर उनके लिए अनाथालय या केयर होम की तलाश में जुट गई। काफी तलाश के बाद मंगल यह जानकर हैरान थीं कि एचआईवी संक्रमित बच्चों के लिए पूरे सूबे में कोई अनाथालय नहीं था। सामान्य अनाथालय उन्हें किसी कीमत पर अपने यहां रखने को तैयार न थे। तब मंगल ने ऐसे बच्चों के लिए खुद अनाथालय खोलने का फैसला किया। हालांकि, खुद उनके परिवार के लोग भी एचआईवी से जुड़ी वर्जनाओं के कारण थोड़ी दुविधा में थे, मगर मंगल के. पति और बच्चों ने उनके फैसले का एहतराम किया और 2001 में उन दो अनाथ बच्चियों के साथ प्रभा-हीरा प्रतिष्ठान के तहत 'प्रोजेक्ट पालवी' की शुरुआत हुई।

मंगल ताई ने जब इन बच्चों के लिए तकली गांव में भवन बनाने का इरादा बनाया, तो गांव वालों ने विरोध किया। एक तरह से उनका जाति-बहिष्कार कर दिया गया। कई लोगों ने उन्हें यह तक समझाने की कोशिश की कि इन दोनों बच्चियों को वह पड़ोस के जंगल में छोड़ आएं, क्योंकि आज न कल इनकी नियति मौत ही है। पर मंगल ताई ने इस संक्रमण से

जुड़े मिथकों को तोड़ा और गांव वालों के भीतर पैठी आशंकाओं पर फतह हासिल की। अंततः वे उनकी मदद के लिए आगे आए। सरकारी अस्पतालों से भी सहायता मिलने लगी।

सबसे अधिक एचआईवी संक्रमण वाले सूबे महाराष्ट्र में पहली बार मंगल ताई ने ऐसे बदनसीब बच्चों के लिए गरिमामय जीवन जीने की व्यवस्था की। उनके इस करुण प्रयास ने कई लोगों को आर्थिक मदद के लिए प्रेरित किया। आज इस संस्थान में 150 से अधिक एचआईवी संक्रमित बच्चे रह रहे हैं। इनकी शिक्षा के लिए बाकायदा संस्थान में स्कूल है। यहां उन्हें तरह-तरह का कौशल प्रशिक्षण भी दिया जाता है। मंगल ताई को कई पुरस्कारों से नवाजा जा चुका है। मगर सच तो यह है कि वह खुद हमारे समाज के लिए एक पुरस्कार हैं।

**न्याय होगा, अवश्य होगा अगर आप बोलेंगीः** महिलाओं पर यौन हमले की घटनाएं यूं तो सदियों से देश-दुनिया में घटती रही हैं, उनको लेकर स्थानीय स्तर पर छोटे-मोटे एहतिजाज भी होते रहे हैं, मगर व्यापक समाज पर खास असर नहीं पड़ता था। निर्भया कांड ने पहली बार इस विषय को एक गंभीर राष्ट्रीय-सामाजिक विमर्श के रूप में खड़ा किया और अब कोलकाता की डॉक्टर के साथ हुई वारदात से भारतीय समाज फिर आंदोलित है। राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो के यौन हिंसा के आंकड़े बताते हैं कि यह मुद्दा कितना गंभीर और जटिल है। जटिल इसलिए कि जिस संसद पर महिलाओं को एक निर्भीक व बराबरी का माहौल देने का दायित्व है, उसके ही कई माननीय इस जघन्य कृत्य के आरोपी हैं और जिस समाज को दुराचारियों से मुंह फेरना था, उसका एक वर्ग तो उनके जेल से बाहर आने पर गुलाल उड़ाता है। उन्हें फूल-मालाओं से लाद देता है। ऐसे में, भारत की औरतों को भी

जापान की पूर्व फौजी रीना गोनोई की तरह अपनी जंग खुद लड़नी होगी।

आज से ठीक 25 साल पहले जापान के एक छोटे से शहर हिगाशी-मात्सुशिमा में गोनोई पैदा हुई। माता-पिता जानते थे कि आज के दौर में बेटी को सिर्फ तालीम दिलाना काफी नहीं है, उसे शारीरिक रूप से भी आत्मरक्षा के योग्य बनाना जरूरी है। लिहाजा, चार साल पूरा करते ही गोनोई की जूडो कराटे की तालीम शुरू हो गई। अच्छी बात यह थी कि बड़े भाई जूडो-कराटे में दक्ष थे। इसलिए गोनोई को किसी बाहरी प्रशिक्षक की जरूरत नहीं पड़ी। जूडो के प्रशिक्षण ने न सिर्फ उन्हें शारीरिक रूप से, बल्कि मानसिक रूप से काफी मजबूत बना दिया।

साल 2011 की बात है। गोनोई तब पांचवीं कक्षा में थीं। 11 मार्च को जापान में जबर्दस्त भूकंप और सुनामी आई। लगभग 20 हजार होग उस कुदरती आपदा में मारे गए थे। गोनोई का घर भी तबाह हो गया था। 11 साल की गोनोई के परिवार को 'जापान ग्राउंड सेल्फ डिफेंस फोर्स', यानी जेजीएसडीएफ की टीम बचाकर शेल्टर होम ले आई थी। इस टीम में पुरुष और महिला सैन्यकर्मी जिस तरह पीड़ित परिवारों की सेवा कर रहे थे, शरणार्थी शिविरों में राहत कार्य कर रहे थे, उसने गोनोई के मन पर गहरा असर डाला। बचपन से वह ओलंपियन बनना चाहती थीं, मगर इस हादसे के बाद जेजीएसडीएफ का हिस्सा बनना उनका लक्ष्य बन गया।

गोनोई को यही लगता था कि फौज में मर्द-औरत में भेदभाव नहीं है, बल्कि स्त्रियों को अन्य क्षेत्रों के मुकाबले यहां

ज्यादा अधिकार हासिल हैं। वह जुट गई। मेहनत रंग लाई और साल 2020 में गोनोई का जेजीएसडीएफ में चयन हो गया। जाहिर है, वह बहुत खुश थीं। सैन्य सेवा का हिस्सा बनने के बाद वहां की खेल सुविधाओं को देखकर उनका पुराना सपना भी जाग उठा था। वह ओलंपिक के लिए तैयारी के मनसूबे बांधने लगी थीं। साल 2021 में उन्हें फुकुशिमा स्टेशन पर नियुक्ति मिली। मगर कुछ ही दिनों में उन्हें एहसास हो गया कि जिनको वह 'हीरो' मानती रही हैं, उनमें कुछ 'विलेन' भी घुसे बैठे हैं।

शुरू-शुरू में गोनोई ने उनके फूहड़ मजाक को नजर अंदाज किया, मगर आहिस्ता आहिस्ता उनकी हिमाकत बढ़ती गई। फिर एक दिन उन्होंने उनके मुंह से अपने अंगों के बारे में अभद्र टिप्पणी सुनी। दो-तीन जवान गाहे-बगाहे गोनोई को गले लगाने की जैसे फिराक में रहते। स्वाभाविक ही वह इस सबसे आहत थीं। फिर अगस्त 2021 में घटी एक घटना ने उन्हें बुरी तरह हिला दिया। तीन फौजी अफसरों ने प्रशिक्षण के दौरान गोनोई को एक टेंट में बुलवाया, जहां वे तीनों शराब पी रहे थे। वे मार्शल आर्ट तकनीक में विरोधी को जमीन पर पटकने और गला घोंटने की शैली पर चर्चा कर रहे थे। उन्होंने गोनोई को गला घोंटने की तकनीक प्रदर्शित करने को कहा।

गोनोई जानती थीं कि यह प्रशिक्षण का माहौल नहीं है, मगर फौजी अनुशासन में सीनियर का आदेश न मानना दंडनीय होता। लिहाजा, जैसे ही वह मुद्रा में आईं, एक अधिकारी ने झपटकर उन्हे बिस्तर पर पटक दिया और उनके शरीर के साथ जैसा व्यवहार किया गया, वह मार्शल आर्ट नहीं, यौनाचार की मुद्रा थी। दर्जन भर अन्य सैन्य सहकर्मी सामने

खड़े यह सब देख रहे थे और खिलखिला रहे थे। इसके बाद गोनोई की सहनशीलता जवाब दे गई। उन्होंने उनके खिलाफ वरिष्ठ अफसरों से यौन उत्पीड़न की शिकायत की, मगर सुबूत के अभाव में उसे खारिज कर दिया गया, क्योंकि सभी पुरुष प्रत्यक्षदर्शी मुकर गए थे। गोनोई ने फिर जेजीएसडीएफ के शीर्ष स्तर पर शिकायत की, मगर नतीजा सिफर रहा, क्योंकि तब भी कोई साथ देने आगे नहीं आया।

निराश होकर जून 2022 में गोनोई ने फौज से इस्तीफा दे दिया। मगर उन्होंने घुटने नहीं टेके। महिला फौजियों के सम्मान और गरिमा की लड़ाई लड़ने का प्रण उन्हें मीडिया के पास ले गया, मगर कोई फौज के खिलाफ खबर लिखने-दिखाने को तैयार न था। हारकर रोना गोनोई ने सोशल मीडिया पर मुहिम चलाई। मुहिम को जोर पकड़ते देख सैन्य नेतृत्व ने नई जांच बिठाई। जांच में गोनोई की सारी शिकायतों को सही पाया गया। पांच सैनिकों को सेवा से बर्खास्त किया गया, चार अन्य को भी सजा हुई। जापान के रक्षा मंत्रालय व जेजीएसडीएफ के प्रमुख को रीना गोनोई से लिखित माफी मांगनी पड़ी। इस साहस के लिए बीबीसी ने गोनोई को दुनिया की सौ प्रभावशाली महिलाओं में गिना, तो अमेरिकी विदेश मंत्रालय ने अभी कुछ ही माह पहले उन्हें 'इंटरनेशनल वुमन ऑफ करेज अवॉर्ड' से सम्मानित किया है।

सेना गोनोई की जीत ने साबित किया है कि न्याय के लिए चुप्पी तोड़नी होगी। रघुवीर सहाय तो दशकों पहले कह गए हैं-कुछ होगा कुछ होगा अगर मैं बोलूंगा/ न टूटे न टूटे तिलिस्म सत्ता का/ मेरे अंदर एक कायर टूटेगा/टूट/ मेरे मन टूट

एक बार सही तरह / अच्छी तरह टूट मत झूठ-मूठ ऊब, मत रूठ...।

**महिलाओं को बराबरी का मौका दिलाने की मुहिमः** दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में महिलाएं पुरुषों के बराबर अधिकारों के लिए आंदोलन कर रही है। एकाध अतिवादी आंदोलन को छोड़ दें, तो उनकी ज्यादातर शिकायतें जायज हैं। 21वीं सदी में भी दुनिया के विकसित देशों तक से लैंगिक भेदभाव की खबरें आती रही हैं, फिर विकासशील देशों की तो बात ही क्या। पूजा बांगड़, पुणे की जिस पारंपरिक संयुक्त परिवार में पैदा हुई, उसकी बेटियों के बहुत पढ़ने-लिखने को लेकर अपनी ही चिंताएं थीं- ज्यादा पढ़ी-लिखी लड़कियों के लिए वर ढूंढ़ना बहुत मुश्किल होता है। पूजा का परिवार बेटियों को इतना ही पढ़ाना-लिखाना चाहता था, जिससे वे सामाजिकता का निर्वाह कर सकें और उनके विवाह में कोई परेशानी न हो। पढ़ने-लिखने में बचपन से ही होशियार पूजा साल 2012 में मुक्तांगन इंग्लिश स्कूल से बारहवों की पढ़ाई पूरी कर सावित्रीबाई फुले यूनिवर्सिटी, पुणे पहुंची। वहां से ग्रेजुएशन करने के बाद उन्हें ब्रिटेन में नौकरी के साथ आगे की पढ़ाई करने का एक अच्छा अवसर मिला। पूजा को लगा, बचपन से विदेश घूमने और बाहर पढ़ने का सपना अब साकार होने वाला है, मगर परिवार ने इस बात की इजाजत ही नहीं दी। माता-पिता को मनाना तो फिर भी आसान होता, संयुक्त परिवार के अन्य सदस्यों को राजी करना संभव न था। आखिरकार उन्होंने उसी यूनिवर्सिटी से आगे की पढ़ाई जारी रखते हुए कंप्यूटर साइंस में मास्टर्स की डिग्री हासिल की। तब

भी कुछ रिश्तेदारों ने सवाल उठाया था कि इतना पढ़-लिखकर क्या करोगी?

विदेश में पढ़ने का मौका गंवा देने की टीस इतनी गहरी थी कि पूजा ने उसी समय अपने पैरों पर खड़ा होने का फैसला कर लिया। मास्टर्स के बाद उन्हें एक नामचीन बहुराष्ट्रीय कंपनी में नौकरी भी मिल गई। पूजा बहुत खुश थीं। आत्मनिर्भर बनने की ओर उन्होंने अपना कदम जो बढ़ा दिया था। लेकिन कुछ ही महीनों में वहां जो अनुभव हुआ, वह हतोत्साहित करने वाला था। पूजा ने देखा कि महिला कर्मचारियों के मुकाबले पुरुष कर्मियों को जल्दी पदोन्नति मिल रही थी, उन्हें बाहर जाकर काम करने के मौके भी खूब मिल रहे थे। महिला कर्मियों से इस बारे में पूछा तक नहीं जाता। पूजा की समझ में आ गया था कि टेक कंपनियों की मध्यम श्रेणी या वरिष्ठ प्रबंधन में औरतों की संख्या इतनी कम क्यों है? जबकि 2017 में ही एक सरकारी रिपोर्ट ने बताया था कि पिछले एक दशक में आईटी कंपनियों में महिलाओं की भागीदारी बढ़कर 34 फीसदी तक हो चुकी है।

उस टेक कंपनी में काम करते हुए उन्होंने न सिर्फ कार्यरत महिलाओं के साथ लैंगिक भेदभाव महसूस किया, बल्कि जो लड़कियां किन्हीं वजहों से अवकाश पर थीं या उन्होंने ब्रेक लिया था, उनकी पुनर्वापसी भी काफी कठिन थी। पूजा प्रौद्योगिकी क्षेत्र के इस परिदृश्य को बदलना चाहती थीं। कॉलेज के दिनों से ही वह अपने दोस्त तेजस कुलकर्णी से महिलाओं की स्थिति पर खूब चर्चा करती थीं। इस दौर के सबसे आधुनिक करियर क्षेत्र में पैठे इस भेदभाव को वह कैसे नजरंदाज कर सकती थीं ? उन्होंने तेजस से चर्चा की कि हमें

इन महिलाओं के लिए कुछ करना चाहिए। दोनों ने अपनी-अपनी नौकरी छोड़ दी और पुणे के ही एक उद्यमी के साथ मिलकर अपनी कंपनी 'टेलीमर्ज आईटी सर्विसेज प्राइवेट लिमिटेड' की शुरुआत की। टेलीमर्ज संचालन के दौरान पूजा ने महसूस किया कि मातृत्व अवकाश पर जाने वाली महिलाएं आईटी सेक्टर में काम करने से झिझक रही हैं, क्योंकि वे फंसा हुआ महसूस कर रही थीं, घर और दफ्तर की जिम्मेदारियों के बीच वे संतुलन बिठाने के लिए जूझ रही थीं।

पूजा को लग गया कि इस मोर्चे पर काम किए बगैर वह खास फर्क न डाल सकेंगी। उन्होंने तेजस से बात की और मार्च 2020 में शीवर्क.इन प्लेटफॉर्म वजूद में आ गया। इस मंच ने महिलाओं को टेक फील्ड में फिर से करियर शुरू करने का अवसर मुहैया कराया, बल्कि उन्हें यह भी विकल्प उपलब्ध कराया कि वे बाहर जाकर काम कर सकें या काम की अवधि चुन सकें। अपने निजी अनुभवों से पूजा चाहती थीं कि महिलाएं आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर हों, ताकि उन्हें अपना रास्ता चुनने की आजादी हो और कोई उनको दबा न सके। जब इरादा किसी की भलाई करते हुए अपनी तरक्की करने का हो, तो बहुत किंतु-परंतु का सामना नहीं करना पड़ता। एक साझा रोजगार मंच के रूप में शीवर्क वेबसाइट टेक कंपनियों को 48 घंटों के भीतर प्रतिभाओं को नियुक्त करने में मदद करने लगी। इस वेबसाइट से वर्तमान में 20,000 प्रतिभाएं जुड़ी हैं। इनमें से लगभग 80 प्रतिशत महिलाएं हैं। आज टेक महिंद्रा, रिबेल फूड्स, डेल, टीसीएस जैसी दिग्गज टेक कंपनियों के अलावा शीवर्क लगभग 150 कंपनियों के साथ साझेदारी कर रही है।

पूजा टेक कंपनियों को महिलाओं के हित में अलग से नीतियां बनाने को नहीं कहतीं, बल्कि वह उन्हें प्रोत्साहित करती हैं कि वे अपनी नियुक्तियों में समावेशी नजरिया अपनाएं और महिलाओं को उनकी योग्यता के अनुरूप उसी भूमिका में मौका दें, जो उनके समकक्ष पुरुषों को वे देती हैं। पूजा ने यह महसूस किया है कि कंपनियां समावेशिता, लैंगिक बराबरी की बातें तो बहुत करती हैं, मगर समान दक्षता के बावजूद वे महिलाओं को समान वेतन देने से कतराती हैं। टेक फील्ड में महिलाओं को अपने पुरुष समकक्ष के मुकाबले 20 से 30 फीसदी कम तनख्वाह पर काम करना पड़ता है। वह इस मोर्चे पर कंपनियों को भरोसे में लेने में जुटी हैं।

दुनिया के मुख्तलिफ इलाकों में घूमते हुए पूजा ने देखा कि कई देशों में कंपनियां कामकाजी महिलाओं के अनुकूल कदम उठा रही हैं। इनमें क्रेच सुविधा के अलावा 'फीडिंग रूम' जैसी सुविधाएं शामिल हैं। पूजा और उनकी स्टार्टअप कंपनी भारतीय महिलाओं को वैसा ही गरिमापूर्ण माहौल मुहैया कराने के लिए संघर्षरत हैं और उन्हें देश-दुनिया से खूब सराहना मिल रही है।

**किसी की जान बचाने से बेहतर काम क्या होगाः** पश्चिम अफ्रीका में एक छोटा सा देश है धाना। करीब साढ़े तीन करोड़ की आबादी वाला यह मुल्क अपने सांस्कृतिक वैविध्य के साथ-साथ राजनीतिक स्थिरता के लिए भी सम्मान की निगाहों से देखा जाता रहा है। शायद यही कारण है कि इसे उप-सहारा का ऐसा पहला अफ्रीकी देश बनने का गौरव हासिल हुआ, जिसने सबसे पहले अपनी पचास फीसदी आबादी को गरीबी की गहरी खाई से बाहर निकाला। लेकिन अब भी घाना के सुदूर इलाकों के लाखों लोग बुनियादी सुविधाओं से वंचित हैं।

ऐसे में, ओसेई बोटेंग वहां जो काम कर रहे हैं, वह अपनी माटी और मुल्क की सेवा के साथ-साथ समूची इंसानियत की खिदमत है।

आज से करीब 28 साल पहले ओसेई घाना के दूसरे सबसे बड़े शहर कुमासे के पास एक छोटे से गांव में पैदा हुए। पिता खाने-पीने की चीजे बेचा करते और ओसेई की मां इस काम में उनकी मदद करती थी। अपनी कमजोर आर्थिक स्थिति की वजह से ये दोनों मिडिल स्कूल से आगे नहीं पढ़ पाए थे, इसलिए माता-पिता, दोनों की बड़ी हसरत थी कि वे बेटे को अच्छी तालीम दिलवाएं, ताकि वह एक डॉक्टर, इंजीनियर या अच्छा वकील बन सके। प्राइमरी स्कूल के लिए भी ओसेई को काफी दूरी तय करनी पड़ती थी। मगर शिक्षा के प्रति माता-पिता की प्रतिबद्धता ने उस फासले का कभी एहसास नहीं होने दिया।

जाहिर है, तमाम पिछड़े देशों की तरह घाना में भी पहली प्राथमिकता भूख से जंग की थी। शिक्षा और स्वास्थ्य का नंबर काफी नीचे था। ऐसे में, गांवों की जिंदगी में बदलाव की रफ्तार बहुत धीमी रही। ओसेई ने बचपन से यही देखा था कि बीमार पड़ने पर लोग 13-14 किलोमीटर दूर स्थित अस्पताल जाने के बजाय स्थानीय धर्मगुरु के पास जाया करते। इसके पीछे उनकी मुराद यही रहती कि धर्मगुरु ईश्वर से उनके हक में फरियाद कर दें, ताकि उन्हें आराम मिल जाए। अस्पताल तो वे तभी जाते थे, जब बीमारी असाध्य हो जाती थी। साल 2014 की बात है, ओसेई की दादी की अचानक मौत ने उन्हें बुरी तरह से आहत कर दिया था। वह दादी के बेहद करीब थे। इस मौत

का गम तब और गहरा हो गया, जब यह पता चला कि दादी की जान बचाई जा सकती थी। वह उच्च रक्तचाप के कारण स्ट्रोक की शिकार हो गई थीं। यदि उनको पहले से हाई ब्लड प्रेशर के बारे में पता होता, और तुरंत उपचार मिल जाता, तो शायद यह नौबत न आती। दादी के जाने का दुख अभी कम भी न हुआ था कि मौसी भी डायबिटीज की भेंट चढ़ गईं। उन्हें भी इसके बारे में पता न था और जब वह डॉक्टर के पास पहुंचीं, तब तक काफी देर हो चुकी थी।

ओसेई ने तभी यह तय कर लिया था कि अपना पूरा जीवन वह देश के लोगों की स्वास्थ्य सेवा को समर्पित कर देंगे, ताकि लोग अपनों से यूं असमय न बिछड़ सकें। उन्होंने काफी मेहनत करके अमेरिका की कॉर्नेल यूनिवर्सिटी से स्कॉलरशिप हासिल कर ली। वहां पढ़ते हुए उन्हें उच्च रक्तचाप व मधुमेह के बारे में ऐसी-ऐसी जानकारियां हासिल हुईं, जिनके बारे में घाना के लोग जानते नहीं थे कि इस वजह से जान भी जा सकती है। प्रारंभिक स्क्रीनिंग का तो वहां कोई विकल्प ही नहीं था। ओसेई वहां गए तो थे डॉक्टर बनने का इरादा लेकर, मगर इसकी डिग्री हासिल करने में वक्त लगता और वह जल्द से जल्द अपने लोगों की जिंदगी में बदलाव लाना चाहते थे। लिहाजा, हेल्थकेयर प्रशासन में मास्टर्स करते हुए वह साल 2017 में कॉर्नेल ट्रेडिशन फेलोशिप के तहत डॉक्टरों व सहायकों की एक टीम लेकर अपने पैतृक गांव पहुंचे, ताकि लोगों के उच्च रक्तचाप और मधुमेह की प्रारंभिक जांच की जाए और उन्हें इन बीमारियों के बारे में जागरूक किया जा सके। गांव की एक महिला जांच कराने से काफी हिचक रही थी. मगर जब जांच हुई, तो उसका ब्लड प्रेशर काफी अधिक था। डॉक्टर फौरन उसे

इमरजेंसी वैन में ले गए। बाद में उनका इलाज कर रहे फीजिशियन ने ओसेई को बताया, यदि इलाज में कुछ घंटे की भी देरी होती, तो उसकी जान जा सकती थी।

इसके बाद ओसेई ने अपना यह प्रयास दोगुना कर दिया। अपनी पूरी बचत से उन्होने ओकेबी होप फाउंडेशन' का गठन किया, जिसके बैनर तले वाह कॉर्नल यूनिवर्सिटी से मेडिकल छात्रों की टीम लेकर घाना के सुदूर ग्रामीण इलाकों में पहुंचते और प्रारंभिक स्क्रीनिंग के जरिये वहां के लोगों में स्वास्थ्य जागरूकता फैलाया करते। इसी क्रम में ओसेई को यह बात शिद्दत से महसूस हुई कि एक ऐसे समाज के लोगों को, जो यदि दिन भर परिश्रम न करें, तो रात फाकाकशी में गुजारनी पड़ती हो, अस्पताल जाने की सलाह देना बेमानी है।

इसलिए साल 2021 में उन्होने चंदा इकट्ठा करके एक बड़ी मेडिकल वैन खरीदी, जो सौर पैनल, इलेक्ट्रॉनिक मेडिकल रिकॉर्ड सिस्टम और तमाम जांच उपकरणों से लैस है। नर्स, डॉक्टर व लैब टेक्निशियनों के साथ यह मोवाइल क्लिनिक थाना के सुदूर 50 गांवों में घूम-घूमकर अब तक 5,000 से भी अधिक ग्रामीण मरीजों का मुफ्त इलाज कर चुका है। चूंकि वैन एक समय में किसी एक जगह ही हो सकती है, इसलिए ओसेई के फाउंडेशन ने विभिन्न समुदायों के लगभग दो दर्जन सदस्यों को प्रशिक्षित किया है, ताकि वे रक्तचाप और ग्लूकोज वगैरह की जांच कर सकें।

ओकेबी होप फाउंडेशन के जरिये अब वह घाना के स्कूलों में बच्चों के बीच मानसिक स्वास्थ्य को लेकर भी जागरूकता फैला रहे हैं। ओसेई का इरादा अगले दस साल में

घाना और उसके पड़ोसी देशों के 80 लाख गरीबों तक मोबाइल क्लिनिक सेवाएं पहुंचाने का है। वह कहते हैं, किसी की जान बचाने से खूबसूरत एहसास इस दुनिया में कोई नहीं। ओसोई के इन प्रयासों को दुनिया भर में पहचान मिल रही है। सीएनएन ने उन्हें 2023 के दस हीरो में नामित किया है।

**अफ्रीका के सबसे बड़े स्लम में हीरे तराशता एक जौहरीः** महानगरों के भूगोल के साथ-साथ लोकतांत्रिक चेतना के विस्तार ने आज भले उनको बीचोबीच समेटने को मजबूर किया हो, पर तथाकथित भद्र समाज ने तो उनके लिए हमेशा हाशिये का टुकड़ा ही तय किया और उसे नाम दिया- स्लम, यानी मलिन बस्ती। देश-काल कोई हो, बुनियादी सुविधाओं से वंचित इन बस्तियों में जीने वालों को अक्सर बाकी शहर ने हिकारत भरी नजरों से ही देखा, यह और बात है कि कथित भद्रलोक का जीवन इनके बिना एक दिन भी नहीं चल सकता। केन्या की राजधानी नैरोबी में एक ऐसी ही विशाल मलिन बस्ती है, किबेरा। केनेडी ओडेडे की कर्मस्थली।

करीब चालीस साल पहले केन्या के एक छोटे से गांव में पैदा हुए केनेडी ओडेडे जब दो साल के थे, तभी उनके परिवार को गांव छोड़ना पड़ा, क्योंकि अकाल के कारण लोग तेजी से भुखमरी के शिकार बनने लगे थे। जान बच सकने की उम्मीद उन्हें राजधानी नैरोबी ले आई थी, जहां अफ्रीका की सबसे बड़ी झोंपड़पट्टी किबेरा में उन सबको पनाह मिली। केनेडी ने इसी बस्ती में होश संभाला। अब जिस बस्ती में पानी, बिजली और शौचालय जैसी बुनियादी सुविधाएं न हों, वहां के बच्चों के लिए स्कूल और पढ़ाई-लिखाई की व्यवस्था भला कौन

करता ? किबेरा में गरीबी और भूख का आलम यह था कि पड़ोस में जिस किसी घर में भी मांस पकता, उसे धनी समझ लिया जाता, और भूख से जब केनेडी के होंठ खुश्क दिखने लगते, तो मां कहतीं 'बेटे, पानी से अपने होंठ तर कर लो, ताकि लगे कि तुमने कुछ खाया है और कोई तुम्हारी हालत पर तरस न खाए।' मां ने कभी स्कूल का मुंह नहीं देखा था, पर अभावग्रस्त जिंदगी जीते हुए भी उन्होंने अपने बेटेको हमेशा प्रोत्साहित ही किया। मगर बालक मन कब तक अपनी भूख और लालसाओं को बांधे रख सकता था?

ऐसा अब अक्सर होने लगा था कि घर में खाने को कुछ भी नहीं होता। दस साल की उम्र रही होगी, जब केनेडी दोस्तों के साथ घर से भाग गए। सड़क ही अब उनका ठिकाना था। कुड़े से खाना चुनने से लेकर चोरी करने और नशीली चीजें बेचने वाले समूह तक के लिए किशोर केनेडी ने काम किया। पैसे बनाने के लिए नहीं, बस किसी तरह अपनी भूख मिटाने के लिए। इस जिंदगी ने केनेडी से उनकी गरिमा छीन ली थी। लावारिस बच्चों से दुर्व्यहार वैसे ही उन्हें समाज के प्रति बागी बना देता है, केनेडी भी सभी पर संदेह करने लगे थे।

एक दिन भूख से जब पेट में दर्द उठने लगा और जेब में कुछ भी बाकी न था, तो उन्होंने फल की दुकान से एक आम चुराने की कोशिश की। केनेडी चोरी करते पकड़े गए। भीड़ ने उन्हें इतनी बेरहमी से पीटना शुरू किया, जैसे वह जान लेकर ही मानेगी। मगर तभी एक शख्स अवतारी बनकर आया। उसने न सिर्फ केनेडी को हिंसक भीड़ से बचाया, बल्कि दुकानदार को उसके आम की कीमत भी चुकाई और फिर उन्हें अपने साथ ले

जाकर भरपेट भोजन कराया। न वह व्यक्ति उन्हें जानता था और न केनेडी ने उसे पहले कभी देखा था। मगर अपनी उदारता से वह करुणा व दयालुता जैसे उच्च मानवीय मूल्यों से केनेडी का परिचय करा गया था।

इस वाकये ने किशोर केनेडी का नजरिया ही बदल दिया। भीतर से मानो आवाज आई- तुम्हें ऐसा ही इंसान बनना था, मगर तुम गलत राह पर बढ़ गए। केनेडी ने उस गरिमाहीन जीवन को त्यागने का फैसला किया। मगर यह इतना आसान भी नहीं था। लोग जब भी उन्हें 'जज' करते, तो मन करता कि इसी क्षण मौत को गले लगा लें। फिर फादर अल्बटों मिले। उन्होंने केनेडी का दाखिला एक स्कूल में करा दिया। बाद में केनेडी को एक फैक्टरी में नौकरी भी मिल गई। दस घंटे की शिफ्ट थी, जिसके बदले 100 शिलिंग (केन्याई मुद्रा) मिलने लगी थी। इसी दौरान उन्हें मार्टिन लूथर किंग (जू) के बारे में पढ़ने को मिला। इससे वह चमत्कारिक रूप से प्रभावित हुए। पंद्रह साल के केनेडी की आंखों में किबेरा का डॉ किंग बनने का सपना उतर आया था। आगे की जिंदगी एक खुली किताब की तरह उनके सामने थी। वह जान चुके थे कि उनके जैसे किशोर महज 20 शिलिंग के लिए क्यों मरने को तैयार रहते हैं? दरअसल, वे सब गहरी नाउम्मीदी के शिकार थे। केनेडी ने उन सबको निराशा के गर्त से निकालने का प्रण लिया। अपनी कमाई से वह थोड़े-थोड़े पैसे बचाने लगे। उन पैसों से उन्होंने एक गेंद (फुटबॉल) खरीदी और समुदाय के बच्चों को जोड़ना शुरू कर दिया। केनेडी अपने दोस्त जॉर्ज के साथ मिलकर इसे एक आंदोलन का रूप देने लगे।

साल 2004 से शुरु 'शाइनिंग होप फॉर कम्युनिटीज' ने किबेरा के हजारों नौजवानों को जिंदगी को देखने नया का

नजरिया दिया। इसने साफ-सफाई, बागवानी, स्वास्थ्य केंद्र, स्कूल संचालन, स्त्री-सुरक्षा जैसे विभिन्न सामाजिक कार्यों से उन्हें जोड़ा। उनमें उम्मीदों के नए बीज डाले। इसी दौरान इंटरनेट के जरिये केनेडी की मुलाकात अमेरिकी युवती जेसिका से हुई। वह केन्या एक अध्ययन के सिलसिले में आने वाली थीं। जेसिका आईं, तो उसी मलिन बस्ती में रुकी और केनेडी व किबेरा के सपनों पर हमेशा के लिए न्योछावर हो गई। अमेरिका की वेस्लेयन यूनिवर्सिटी ने केनेडी को पूर्ण छात्रवृत्ति के साथ अपने यहां से ग्रेजुएशन करने का प्रस्ताव दिया। डिग्री के बाद केनेडी ने फिर पीछे मुड़कर नहीं देखा।

फिर ऐसे मोड़ भी आए, जब किबेरा ने केनेडी को अपना मेयर निर्वाचित किया। अपने संगठन 'शाइनिंग होप फॉर कम्युनिटीज' के जरिये केनेडी ने अब तक इस मलिन बस्ती की हजारों जिंदगियों को एक नया अर्थ दिया है। वर्ल्ड इकोनॉमिक फोरम ने साल 2022 में उन्हें 'यंग ग्लोबल हीरो' चुना था। हाल ही में प्रतिष्ठित पत्रिका टाइम ने उन्हें 2024 की सौ प्रभावशाली हस्तियों में शामिल किया है, केनेडी आफ्रीका के करोड़ों युवाओं के आज रोल मॉडल हैं।

**सिर्फ सरकारी नौकरियां बेरोजगारी का हल नहीः** हिन्दुस्तान नौजवानों का देश है। इसकी 65 फीसदी से अधिक आबादी की उम्र 35 साल से कम है। ऐसे में, रोजगार देश का सबसे अहम मुद्दा होना चाहिए और है भी। 'सेंटर फॉर दी स्टडी ऑफ डेवलपिंग सोसायटीज', यानी सीएसडीएस ने अपने हालिया सर्वे में इस बात की पुष्टि भी की है। इस समस्या से जुड़ी एक कटु हकीकत यह भी है कि कोई सरकार इतनी

विशाल युवा आबादी के लिए सरकारी नौकरियों का सृजन नहीं कर सकती, अलबत्ता उनकी आजीविका के उपाय करने का दायित्व उसी का है। मगर इस समस्या के हल का एक ठोस रास्ता भावेश चौधरी जैसे युवा दिखा रहे हैं, जो न सिर्फ तमाम विपरीत परिस्थितियों के बावजूद आज एक सफल उद्यमी हैं, बल्कि उन्होंने अपने आसपास के 150 से भी ज्यादा किसानों की जिंदगी पर सकारात्मक असर डाला है।

राजस्थान के झुंझुनू जिले में एक तहसील है सूरजगढ़। इसी के बेरला-आसलवास गांव में आज से करीब 25 साल पहले भावेश पैदा हुए। पिता शेर सिंह चौधरी सीमा सुरक्षा बल में जवान थे और गांव में अपनी खेती-बाड़ी भी थी, इसलिए भावेश का बचपन कभी किसी अभाव में नहीं गुजरा। गांव के तमाम बच्चों की तरह स्थानीय स्कूल में ही पढ़ाई-लिखाई हुई, पर स्कूल में कभी उनका दिल नहीं लगा। चार भाई-बहनों में दूसरे भावेश यही देखते हुए सयाने हुए कि उनके गांव के लड़कों, बल्कि अब तो लड़कियों का भी एक ही लक्ष्य होता है, फौज या पुलिस में कोई सरकारी नौकरी हासिल करना।

पिता शेर सिंह कभी-कभी बेटे को अपनी पोस्टिंग वाली जगहों पर ले जाया करते थे, जहां उनको तरह-तरह के आदेशों का पालन करते देख या काफी तनाव में भी 'ड्यूटी' निभाते देखकर भावेश का बालक मन नौकरी से विरक्त होता गया। हालांकि, परिवार और खुद पिता की यही अपेक्षा थी कि वह गांव के अन्य बच्चों की तरह फौज या पुलिस में अपना करियर बनाएं। मगर भावेश ने कोई लक्ष्य ही नहीं बनाया। वह बस कक्षाएं पास करते और बढ़ते चले आए। बारहवीं का इम्तिहान पास करने के बाद पहली बार लक्ष्य संबंधी सवाल ने

उन्हें परेशान किया कि अब क्या? जाहिर है, जब शहरी इलाकों में ही किशोरों की अभिरुचि जांचने परखने और उन्हें उनकी पसंद के क्षेत्र में दक्ष बनाने के प्रयास आधे-अधूरे हैं, तो बेरला-आसलवास के युवाओं की सुध कौन लेता ?

आगे पढ़ने की बहुत इच्छा नहीं थी, पर परिवार के दबाव में उन्होंने बीएससी में दाखिला ले लिया। पढ़ाई करते हुए सरकारी नौकरियों की कई परीक्षाएं दीं, मगर किसी में कामयाबी हाथ नहीं आई। इस दौरान उनके कई दोस्त सरकारी मुलाजिम बन चुके थे। परिजनों व पड़ोसियों के व्यंग्य का सिलसिला शुरू हो गया था। मगर भावेश के दिमाग में यह साफ हो चुका था कि दूसरों के हुक्म मानने वाली नौकरी उनको करनी नहीं है, और आदेश देने वाली कोई नौकरी उनको मिलने से रही ! लिहाजा, उन्होंने कॉलेज के द्वीतीय वर्ष में पढ़ाई छोड़ परिवार में एलान कर दिया कि वह अपना कोई काम करेंगे।

परिचितों ने मजाक उड़ाना शुरू कर दिया। पिता तो खैर नाराज थे ही। भावेश को अब अक्सर सुनना पड़ता- यह किसी काम का नहीं है... इसे जायदाद से बेदखल कर दो, वरना घर-जमीन, सब बेच देगा... ऐसे निठल्ले को कौन अपनी बेटी देगा ? हरियाणा-राजस्थान के इस इलाके की एक निर्मम सच्चाई यही है कि जिन युवाओं के पास सरकारी या मोटी पगार वाली निजी नौकरी नहीं या जिनके पास जमा-जमाया कारोबार नहीं, उनकी शादी नहीं होती।

पिता के दबाव के आगे घुटने टेकते हुए भावेश ने पड़ोस के शहर लोहारू के एक इंजीनियरिंग कॉलेज में दाखिला तो ले

लिया, मगर उनके पल्ले कुछ भी नहीं पड़ रहा था, क्योंकि वहां अंग्रेजी माध्यम से पढ़ाई होती थी और भावेश की अब तक की पूरी पढ़ाई हिंदी माध्यम से हुई थी। एक महीने में ही उन्होंने इंजीनियरिंग कॉलेज को भी छोड़ दिया। सवाल था, अब क्या किया जाए? जो कुछ भी करना था, अपने तई करना था। भावेश को याद आया कि जब वह हॉस्टल में रहते थे, तब उनके शहरी सहपाठी व कॉलेज शिक्षक उनसे मां के हाथों बना देसी घी लाने की बहुत फरमाइश किया करते और जब वह घी लेकर जाते, तो वे सभी स्थानीय भाव के अनुसार उन्हें भुगतान भी करते थे। भावेश ने देसी घी का अपना उद्यम शुरू करने का फैसला किया। साल 2019 की बात है। अपने दो-तीन दोस्तों से उन्होंने कर्ज के तौर पर 30,000 रुपये जुटाए और उस रकम से एक वेबसाइट बनवाई, मगर इस पर किस तरह से मार्केटिंग करनी है, यह तो उन्हें आता ही नहीं था। उनका सारा निवेश बेकार चला गया।

भावेश को थोड़ी निराशा हुई, पर उन्होंने हार नहीं मानी। यू-ट्यूब पर देशी घी खाने के फायदे के बारे में वीडियो देखे। उनमें नीचे टिप्पणी करने वालों से उन्होंने संवाद करना शुरू किया और फिर ड्राइविंग लाइसेंस बनवाने के लिए मां से मिले 3,000 रुपये से नई शुरुआत की। सितंबर 2019 में वह मुबारक दिन आया, जब बिहार के भागलपुर से उन्हें पहला ऑर्डर मिला। 1,125 रुपये का वह भुगतान भावेश जीवन भर नहीं भूल सकेंगे। काम बढ़ा, कमाई बढ़ी, तो अपनों का भरोसा भी बहाल हुआ। फिर पिता के सहयोग से गायों की तादाद भी बढ़ी, गौशाला का भी विस्तार हुआ। फिर उन्होंने आस-पड़ोस

के छोटे-छोटे 150 देसी गाय पालकों व दुग्ध उत्पादकों को जोड़ा। भावेश आज सालाना करीब आठ करोड़ रुपये का देसी धी का कारोबार कर रहे हैं। अपनी सरकारी मुलाजिम दोनों बहनों को वह मजाक में छेड़ते हैं- सरकार तुमको जितनी तनख्वाहें देती है, उससे ज्यादा तो हम उसे जीएसटी चुकाते हैं। बकौल भावेश, बेरोजगारी का हल सिर्फ सरकारी नौकरी नहीं, यह बात परिवारों को भी समझने की जरूरत है।

**ताकि कोई मरीज खुद को कभी बेसहारा न समझेः** मानव सभ्यता के विकास के किसी मोड़ पर लोगों को यह ख्याल आया होगा कि क्यों न अपने कबीले की तादाद गिनी जाए, फिर वहीं सोच पूरे इलाके, जनपद और रियासत तक फैली होगी। हालांकि, हम आज भी यह दावा नहीं कर सकते कि जो जनगणनाएं है, वे सौ फीसदी सटीक है, मगर वे एक अनुमान तो हमें देती ही है कि इंसानी दुनिया इस वक्त आठ अरब की संख्या को पार कर चुकी है। पर क्या कभी आपने गौर किया, कितने अरब लोग इस गणना से पहले धरती पर आए और चले गए ? नहीं मालूम। मगर हमने कुछ नामों को हमेशा याद रखा। क्यों? क्योंकि वे किसी न किसी बदलाव के वाहक थे या अपने जीवन से कुछ सबक सिखा गए। प्रसन्ना कुमार शिरोल देश, समाज और इंसानियत की जैसी सेवा कर रहे है, जमाना लंबे समय तक उन्हें भी याद रखेगा।

कर्नाटक के हुबली में 55 साल पहले पैदा हुए प्रसन्ना के पिता ने यही सोचकर यह नाम रखा था कि बेटा जीवन भर प्रसन्न रहेगा। तब उनको क्या पता था कि बेटे की जिंदगी में एक ऐसा झंझावात आएगा कि उसका सामना करते हुए वह

अनगिनत लोगों की खुशियों और उम्मीदों का केंद्र बन जाएगा? प्रसन्ना एक मेहनतकश मध्यवर्गीय परिवार में जन्मे थे। प्रगतिशील पिता बहुत छोटी उम्र से प्रोत्साहित किया करते कि जीवन और समाज में ऊंचा मुकाम हासिल करने का इकलौता रास्ता शिक्षा है। शहर के बाजल मिशन स्कूल ने न सिर्फ प्रसन्ना के भीतर के जिज्ञासु विद्यार्थी को तराशा, बल्कि उनमें एक बेहतर इंसान की नींव भी रखी। हाईस्कूल की पढ़ाई पूरी करके वह इलेक्ट्रॉनिक्स, भौतिकी व गणित में बीएससी करने गुलबर्गा यूनिवर्सिटी पहुंचे और उसके बाद का पड़ाव था, बेलगाम स्थित 'इंस्टीट्यूट ऑफ मैनेजमेंट एजुकेशन ऐंड रिसर्च।'

यह ठीक वही समय था, जब नरसिंह राव और मनमोहन सिंह के नेतृत्व में भारत ने आर्थिक उदारीकरण की राह पर चलने का फैसला किया था। साल 1993 में आईएमईआर से एमबीए की डिग्री हाथ में आते ही प्रसन्ना के लिए अवसरों के अनेक दरवाजे एक साथ खुल गए थे। मनचाही नौकरी, शारदा के रूप में मनपसंद जीवनसाथी, सिर पर माता-पिता का साया, फिर जिंदगी से कोई शिकायत कैसे पालते प्रसन्ना ? ऐसे में, पेशेवर तौर पर खुद को अपग्रेड करने की चुनौती उन्हें रोमांचित करती और वह उन चुनौतियों को जीतकर ऊपर चढ़ते रहे।

साल 1999 में उनकी जिंदगी में संतान के रूप में एक बेटी आई। शारदा और प्रसन्ना बहुत खुश थे। बेटी का नाम निधि रखा गया। मगर एक सप्ताह के भीतर ही बच्ची की सेहत बिगड़ने लगी। अगले 45 दिन हॉस्पिटल में ही बीते। खुशियों की जगह चिंता और तड़प ने ले ली थी। निधि को घुटनों के बल

रेंगने, खड़े होने और चलने में काफी वक्त लगा। उसे तकलीफ होती थी। बेटी की पीड़ा शारदा-प्रसन्ना को निढाल कर देती।

जिस किसी ने जहां से निधि के ठीक होने की उम्मीद थमाई, शारदा और प्रसन्ना वहीं पहुंच गए। अगले सात सालों में वे 45 अस्पतालों व डॉक्टरों में बेटी को दिखा चुके थे। मगर उसे क्या हुआ है, यह पता ही नहीं चल पा रहा था। आखिरकार सात साल के बाद पता लगा कि निधि चालीस हजार लोगों में से एक को होने वाले दुर्लभ न्यूरोमस्कुलर रोग 'पोम्पे' की शिकार है। भारत में इस रोग की वह पहली ज्ञात मरीज थी।

दुनिया में दुर्लभ किस्म की बीमारियों की संख्या करीब सात हजार है। पोम्पे उनमें से एक है। प्रसन्ना चाहते थे कि रोग पता चल गया है. तो अब बेटी का जल्द से जल्द इलाज हो जाए और वह अपनी हम उम्र बच्चियों की तरह दौड़े-खिलखिलाए। मगर भारत में इस रोग का पहले कभी इलाज ही नहीं हुआ था। हकीकत यह थी कि आनुवंशिक जांच प्रणाली भी उन दिनों अपनी प्रारंभिक अवस्था में थी। दुर्लभ रोगों के मरीजों की मदद के लिए देश में कहीं कोई खास व्यवस्था नहीं थी। एक नामचीन कॉरपोरेट कंपनी में एसोसिएट वाइस प्रेसिडेंट प्रसन्ना, बेटी के इलाज के बढ़ते खर्चे के आगे बेबस हो चले थे। हर महीने लगभग डेढ़ लाख रुपये खर्च होने लगे थे। विदेश से मिलने बाली काफी महंगी दवाइयों और इलाज के लिए उन्होंने अपनी संपत्ति बेचनी शुरू कर दी थी। आखिरकार, नीदरलैंड्स इंटरनेशनल पोम्मे एसोसिएशन ने प्रसन्ना की मदद की और उनका संपर्क अमेरिकी जैव- प्रौद्योगिकी कंपनी जेनजाइम' से कराया। अपनी धर्मार्थ पहल के तहत इस फार्मेसी कंपनी ने निधि को निःशुल्क दवा मुहैया कराने का वादा किया। प्रसन्ना ने राहत की गहरी सांस ली, मगर अगले ही पल उन्हें इस एहसास

ने बेचैने कर दिया कि वह और उनकी बेटी तो भाग्यशाली थे कि उन्हें यह मदद मिल गई, मगर उन लोगों का क्या, जो संपर्कों के इतने धनी नहीं? कुछ बेटी की देखभाल की जरूरतों ने, तो अधिक इस सवाल से उपजी बेचैनी ने साल 2014 में प्रसन्ना को नौकरी छोड़कर ऑर्गनाइजेशन फॉर रेयर डिजीज इंडिया' (ओआरडीआई) की शुरुआत करने को प्रेरित किया।

बाईस साल तक अपनी मां और पिता का अनुपम स्नेह बटोरकर निधि जा चुकी है। मगर प्रसन्ना बेटी की मौत के साथ रुके नहीं। उन्होंने दुर्लभ रोगों के शिकार मरीजों व अभिभावकों की मदद को अपने जीवन का मकसद बना लिया। प्रसन्ना की मदद से 2017 में सरकारी अस्पताल आईजीआईसीएस, बेंगलुरु में पहले दुर्लभ रोग देखभाल समन्वय केंद्र, यानी आरडोसीसीसी की शुरुआत हुई। प्रसन्ना की अथक कोशिशों का नतीजा है कि साल 2017 से दुर्लभ रोगों के मरीजों की मदद के लिए 100 करोड़ रुपये की बजटीय मंजूरी मिली। इस कोष से ऐसे रोगियों को अधिकतम 50 लाख रुपये तक की सहायता मिलने लगी। लगभग 275 मरीज अब तक इसका लाभ उठा चुके हैं। जब भी कोई प्रसन्ना का आभार जताने के लिए फोन करता है या उनसे मिलने आता है, तो लगता है. उसकी मुस्कान में निधि मुस्करा रही है।

**यतीमों को परिवार देने की चाह ने मसीहा बना दियाः** उनकी जड़े उत्तराखंड के अल्मोड़ा से जुड़ी है, परवरिश झीलों के शहर भोपाल में हुई, तो ऊंची तालीम के लिए कोलकाता ने बाहें पसारकर अपने पास बुला लिया; फिर उस शहर की

फजाओं में घुली स्वामी विवेकानंद और मदर टेरेसा की यादों, उदात्तं सेवाओं की स्मृतियों ने इस कदर मन मोहा कि भोपाल लौटने का इरादा ही त्याग दिया। जिन संस्थानों में पढ़ने के ख्वाब लाखों नौजवान सोते-जागते देखते हैं, विनायक लोहानी ने उनसे डिग्रियां भी हासिल की और उनके जाल से आजाद भी रहे। 47 साल की उम्र तक पहुंचते-पहुंचते उन्होंने कुछ ऐसे काम कर दिए कि इसानियत मुस्करा उठी। पिछले दिनों भारत सरकार ने जब पद्मश्री के लिए उनके नाम का एलान किया, तो देश भर के अनगिनत लोग प्रसन्न हो उठे।

12 अप्रैल को भोपाल में एक आईएएस के घर जन्मे विनायक का बचपन भरपूर सुविधाओं के बीच बीता। शहर के कैंपियन स्कूल में पढ़ाई-लिखाई हुई। पढ़ने-लिखने में जहीन विनायक के बारे में जानने वालों की शुरू से यही राय रही कि यह बालक कुछ अच्छा करेगा और साल 2000 में आईआईटी खड़गपुर से  बीटेक की डिग्री के साथ यह भरोसा सही भी साबित हुआ। विनायक को एक प्रतिष्ठित बहुराष्ट्रीय कंपनी में नौकरी मिली, मगर कॉरपोरेट दुनिया उन्हें रास नहीं आई और साल भर बाद ही वह एक बार फिर पढ़ाई की ओर मुड़ गए। इस बार उनका पड़ाव था, आईआईएम कोलकाता। प्रबंधन की पढ़ाई के आखिरी दिनों में विनायक का मन कुछ बदलने लगा था। दरअसल, स्टेशन और शहर की बदनाम गलियों में लावारिश बच्चों की हालत देखकर उनका मन व्यथित हो उठा था। तब तक वह सामाजिक सरोकार के विषयों पर अखबारों में लिखने लगे थे, बल्कि कई गैर-सरकारी संस्थाओं में बतौर वॉलंटीयर सेवा भी कर चुके थे। लिहाजा, एमबीए करने के बाद कॉरपोरेट की दुनिया में लौटने के बजाय वह कुछ ऐसा

करना चाहते थे, जिससे यतीम बच्चों की जिंदगी बदल सकें। विनायक ने इसीलिए 'कैंपस प्लेसमेंट' से अलग रहने का फैसला किया। सब हैरान थे, क्योंकि आईआईएम, कोलकाता के इतिहास में पहली बार किसी ने ऐसा किया था। साल 2003 में एमबीए की डिग्री हासिल करने बाद उन्होंने बाकायदा रामकृष्ण मिशन में दीक्षा ली और वहां के संन्यासियों के साथ वक्त गुजारा। फिर समाज सेवा के इरादे से उन्होंने एक आश्रम की शुरुआत की, जिसका नाम 'परिवार' रखा।

पच्चीस साल का एक नौजवान, जिसके एक हाथ में आईआईटी से बीटेक की डिग्री हो और दूसरे हाथ में आईआईएम से एमबीए की, जिसके आगे अवसरों के दर्जनों दरवाजे एक साथ खुलें पड़े हों, वह एक गैर-लाभकारी संगठन चलाना चाहता था। बेटे की इस हिमाकत से पिता कुछ नाखुश थे, क्योंकि ऐसा संगठन चलाने के लिए जो तजुर्बा चाहिए, वह विनायक के पास कहां था? वह प्रस्ताव तैयार करके यहां-वहां लोगों से मिलते, पर कोई भी मदद करने को तैयार नहीं होता। धन जुटाने की सारी कोशिशें जब बेमानी हो गईं, तो उन्होंने एमबीए की तैयारी कर रहे छात्रों को ट्यूशन पढ़ाना शुरू कर दिया। इससे जो भी पैसे मिलते, उससे शहर के ठाकुरपुकुर के करीब उन्होंने किराये पर एक इमारत ली और तीन बच्चों के साथ अपना आश्रम शुरू कर दिया। नाम रखा- परिवार।

विनायक अपनी सारी कमाई इस मिशन में लगा रहे थे। मगर कई बार ऐसी स्थिति भी पैदा हो आती कि अगली सुबह या शाम के भोजन की व्यवस्था कहां से होगी पता नहीं होता। मां को बेटे के संघर्ष के बारे में पता चला तो परिवार

आश्रम के लिए पहला डोनेशन भोपाल से आया। मां तो मां होती है। विनायक का हौसला बुलंद हुआ। अगले छह महीने में 55 बच्चे परिवार का सदस्य बन चुके थे। विनायक ने आईआईएम के पुराने साथियों से अपील की। उन्हें ई-मेल लिखा। अच्छी जगहों पर पदारूढ़ साथियों ने दिल खोलकर साथ दिया। 2004 के अंत तक विनायक ने अपने आश्रम के लिए ठाकुरपुकुर में दो एकड़ जमीन खरीदी और उसमें अपने सपनों की तामीर खड़ी की। दो एकड़ का परिसर आहिस्ता आहिस्ता बीस एकड़ तक फैलता गया और विनायका का 'परिवार आश्रम' पूर्वी भारत का सबसे बड़ा निःशुल्क आवासीय संस्थान बन गया।

शुरुआत में विनायक ने चार से दस साल तक के अनाथ, परित्यक्त और गरीब आदिवासी बच्चों की सहायता पर अपना ध्यान केंद्रित किया, क्योंकि वह जानते थे कि शोषण, उत्पीड़न और मानव तस्करी के लिहाज ये बच्चे ही सबसे अधिक संवेदनशील स्थिति में होते हैं। एक नौजवान की इस करुण कवायद ने अनेक युवाओं को आकर्षित किया। ये विनायक के साथ आ खड़े हुए। मदद के हाथ बढ़ते गए और फिर वह मुकाम भी आया, जब विनायक ने बंगाल परिसर में लड़कों के लिए 'परिवार विवेकानंद आश्रम' और लड़कियों के लिए 'परिवार शारदा तीर्थ' नाम से दो आवासीय स्कूलों की शुरुआत की। इन दोनों संस्थानों में आज 2100 से अधिक बेसहारा, वंचित बच्चे निःशुल्क अपना जीवन बदल रहे हैं। यहां के कई बच्चे विश्वविद्यालय की डिग्रियां भी हासिल कर चुके हैं।

साल 2016 में विनायक ने मध्य प्रदेश के संदलपुर में आश्रम के लिए 17 एकड़ जमीन खरीदी। 2017 में उन्होंने मध्य प्रदेश और छत्तीसगढ़ के 19 जिलों की आदिवासी बस्तियों में ४०० रामकृष्ण विवेकानंद सेवा कुटीर की स्थापना की है, जिनमें आज लगभग 55000 गरीब बच्चे दो पारियों में भोजन के साथ शिक्षा व जीवन कौशल हासिल कर रहे हैं। बंगाल की तरह परिवार आश्रम ने संदलपुर और सिहोर में दो आवासीय स्कूल बनाए हैं, जहां 1,000 से अधिक बच्चे पढ़ रहे हैं। विनायक ने बहुत पहले फैसला कर लिया था कि वह कभी शादी नहीं करेंगे, नियति ने उन्हें हजारों यतीमों के पिता बनने के लिए जो चुना था। पद्मश्री ऐसे नामों के साथ जुड़कर ही सार्थक होती है।

**सैकड़ों एचआईवी संक्रमित बच्चों की ट्रांसजेंडर माः** दुनिया के सबसे ताकतवर मुल्क के नए सदर ने उन्नीस जनबरी 2025 को जब अपने ओहदे की अहद उठाई, तो उन्होंने एक ऐसा एलान किया, जिसे संसार भर के तरक्की पसंद लोगों ने कुदरत के निजाम को सीधी चुनौती माना। राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप ने कहा, अब से अमेरिका में इंसान की दो ही पहचान होगी- औरत और मर्द। एक झटके में उन्होंने 16 लाख 'ट्रांसजेंडर' अमेरिकियों से उनकी पहचान छीन ली। विडंबना देखिए, मानवाधिकारों के कथित सबसे बड़े अलंबरदार देश के राष्ट्रपति ने अपने नागरिकों को नई आजमाइश में डाल दिया है। ऐसे में, नूरी सलीम जैसों का किरदार बताता है कि 'ही' और 'शी' की

पहचान में समूची दुनिया को समेटने वाले लोग वाकई कितने बौने हैं।

आज से 75 साल पहले रामनाथपुरम (तमिलनाडु) के एक रूढ़िवादी मुस्लिम परिवार में दूसरा बेटा पैदा हुआा, तो घरवालों ने उसका नूर मोहम्मद नाम रखा। बदनसीबी यह रही कि नूर महज चार साल के थे, तभी मां चल बसीं और शोक के चालीस दिन बीतते-बीतते ही पिता सलीम मोहम्मद ने दूसरी शादी कर ली। उम्र के बढ़ने के साथ एक अजीब सी उलझन नूर को जकड़ने लगी थी। उन्हें लड़कियों के बीच रहना ज्यादा रास आता था। सहपाठी लड़के भी स्कूल में उन्हें लड़कियों के नाम लेकर चिढ़ाने लगे थे। पड़ोसी और रिश्तेदार भी अक्सर पिता को टोक देते, 'सलीम भाई, आपका बेटा बिल्कुल लड़कियों की तरह चलता है।'

सौतेली मां तो पहले ही स्त्रैण स्वभाव के कारण नूर से नफरत करती थीं, लोगों के ताने अब पिता को भी चुभने लगे। जिस शिक्षा के जरिये नूर को तमाम तंज-तानों से मुक्ति मिल पाती, उसका अधिकार उनसे छीन लिया गया। तीसरी जमात के बाद उनका स्कूल जाना बंद करा दिया गया था। बात-बेबात की पिटाई और मानसिक प्रताड़ना जब सहन से बाहर होने लगी, तो एक दिन नूर घर से भाग निकले। तब उनकी उम्र सिर्फ 13 साल थी। भागकर वह मद्रास (अब चेन्नई) पहुंचे। नूर के लिए वह बिल्कुल अलग दुनिया थी। कदम-कदम पर हैरान करने वाली, गली-गली में चौंकाने वाली।

नूर चले तो आए थे, मगर चेन्नई में उन्हें जानने वाला कोई न था। समझ में नहीं आ रहा था कि कहां जाएं, किससे

मदद मांगें, किस तरह भूख मिटाएं ? भटकते हुए वह सेंट्रल रेलवे स्टेशन पर पहुंचे, जहां एक ट्रांसजेंडर से उनकी मुलाकात हुई। नूर को देखकर उनकी दिमागी कैफियत समझते उसे देर न लगी। उसने कहा, 'नूर, हम जैसों के जीने के दो ही रास्ते हैं-बार डांसर बन जाओ या फिर यौनकर्मी।' नूर ने रिरियाते हुए उससे कोई और काम दिलाने को कहा, तो उसका दिल पसीज उठा। अपने संपर्कों का इस्तेमाल करते हुए उसने एक घर में नौकर का काम दिला दिया। तीन साल हो गए थे और नूर नई नौकर की जिंदगी के अभ्यस्त भी हो चले थे कि तभी एक दिन मां का पैगाम लेकर एक आदमी मिला। मां ने नूर से गुजारिश की थी कि पिता की चंद सांसें बची हैं, आकर मिल लो।

पिता के मरनासन्न होने की सूचना आहत तो कर गई थी, पर घर लौटने को मन नहीं मान रहा था। शारीरिक-मानसिक प्रताड़ना के पिछले दिन बार-बार कदम थाम लेते थे। मगर वह इस मलाल के साथ भी बाकी उम्र नहीं जीना चाहते थे कि मरते हुए पिता की मिलने की इच्छा का उन्होंने मान नहीं रखा। घर आने के तीसरे दिन ही पिता चल बसे थे। शोक के कुछ ही दिन बीते होंगे और मां ने यह जानते हुए कि नूर एक ट्रांसजेंडर हैं, उनकी शादी एक लड़की से तय कर दी। नूर इस बार भागकर सीधे बॉम्बे (अब मुंबई) पहुंच गए। वहां 'थर्ड जेंडर' समुदाय के बीच पनाह मिली और नूर का नूरी में कायांतरण हो गया।

अगले सात साल नाचते, नेग और भीख मांगते बीते। इस दौरान ट्रेनिंग के लिए मुंबई आए एक फौजी दत्ता से मुलाकात हुई। दत्ता ने छत और इज्जत, दोनों देने को वादा

किया। शल्य चिकित्सा की मदद से नूरी स्त्री भी बनीं और चेन्नई लौटकर अगले 16 वर्ष उन्होंने दत्ता के साथ सुकून भरा दांपत्य जीवन जिया। मगर 1985 के एक विमान हादसे में दत्ता की मौत क्या हुई, नूरी का जैसे सब कुछ खत्म हो गया। कोई उन्हें नौकरी देने या काम पर रखने को तैयार न था। हाँ यौनाचार की कीमत चुकाने वालों की कोई कमी न थी। सन् 1987 में एचआईवी पॉजिटिव पाई जाने वाली नूरी देश में दूसरी भारतीय थीं। डॉक्टरों ने कहा, 'नूरी, आपके पास बस दो वर्ष हैं।' कुछ दिन इस गम में बीते कि मौत सिरहाने खड़ी है, मगर ज्यादा पीड़ा इस बात की थी कि अंगर समाज ने उन्हें उनकी ट्रांसजेंडर पहचान के साथ अपना लिया होता, तो वह यूं रेजा-रेजा न बिखरतीं। खैर, डॉक्टर ऊषा राघवन किसी नेमत की तरह उनकी जिंदगी में आई। उन्होंने नूरी की काउंसलिंग की, चेन्नई के एक सरकारी अस्पताल में उनके लिए नौकरी की व्यवस्था की और अपनी जेब से उन्हें हर महीने 800 रुपये दिए, ताकि उनकी बुनियादी जरूरतें पूरी हो सकें।

नूरी को अब दूसरों के लिए जीना था। उन्होंने एचआईवी संक्रमितों को मौत से पहले पल-पल मरने की त्रासदी से बचाने का फैसला किया। उन्हें डॉक्टर राघवन और तमिलनाडु सरकार का साथ मिला। जरूरी चिकित्सकीय कौशल सीखने के बाद वह उस ओहदे तक पहुंचीं, जहां उन्हें 70 लोगों को नियुक्त करने का अधिकार मिला। नूरी तमिलनाडु की पहली ट्रांसजेंडर हैं, जिन्हें इस पहचान के साथ राशनकार्ड व पासपोर्ट हासिल हुआ। साल 2003 में उन्होंने एसआईपी मेमोरियल ट्रस्टकी शुरुआत की, जिसके साये में करीब 400

एचआईवी पॉजिटिव परित्यक्त बच्चों को उन्होंने अब तक मां की ममता और एक नई जिंदगी दी है। इस दौर के सियासी लोगों को खुदा बनने का बड़ा शौक है, पर नूरी सलीमों को सलाम, जो अपनी दिलेरी से आईना दिखा रही हैं कि पहले इंसान तो बन जाओ!

**पिता की चाह ने गांबिया का रोल मॉडल बना दियाः** हर साल 8 मार्च को दुनिया अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस मनाती है। यह दिन संसार को याद दिलाता है कि 21वीं सदी में पहुंचकर भी आधी आबादी को उसका मानवीय अधिकार नहीं मिल सका है और जब तक उसे पुरुषों के बराबर सशक्त नहीं बनाया जाएगा, यह विश्व सभ्य नहीं बन सकता। फाटू बलदेह जैसों का संघर्ष महिलाओं के दमन को उजागर करता है।

पश्चिम अफ्रीका का एक छोटा-सा देश है गांबिया। करीब 42 साल पहले इसी देश के टबोकोटो में बलदेह पैदा हुई। सघन आबादी वाले इस शहर में पली-बढ़ी बलदेह का बचपन आठ साल तक बहुत सुखद रहा। माता-पिता, दोनों उन पर बहुत स्नेह लुटाते। उन दोनों ने खुद तो स्कूल का मुंह नहीं देखा था, मगर तालीम की दौलत से उनके बच्चे महरूम न सहने पाएं, इसको लेकर वे काफी सचेत थे। स्कूल जाने की उम्र होते ही उन्होंने सेंट चार्ल्स प्राइमरी स्कूल में बलदेह का दाखिला करा दिया। पिता चाहते थे कि बलदेह अपनी छोटी बहनों के लिए एक रोल मॉडल बने, इसलिए यह बराबर प्रोत्साहित करते रहते कि वह तालीम की मदद से अमीर बन सकती हैं। हालांकि, मां जिन रूढ़ियों के साथ पली-बढ़ी थीं, वह बलदेह और दूसरी बेटियों से उनको अपनाने की अपेक्षा करतीं।

बलदेह जब आठ साल की हुई, तो एक दिन उन्हें किसी परिचित के घर ले जाया गया। वहां काफी संख्या में लोग पहले से इकट्ठा थे। जश्न सा माहौल था। कुछ लोग नाच रहे थे. कुछ ड्रम बजा रहे थे। बलदेह को कुछ पता नहीं था कि आखिर यह जश्न किसलिए है? उन्हें कुछ भी नहीं बताया गया था। बलदेह को समवय लड़कियों की कतार में खड़ा कर दिया गया। वे करीब दस लड़कियां थीं। फिर एक-एक कर उन सबका जननांग विच्छेदन (एफजीएम) किया गया। ये सब इसको समझ पातीं, इसके पहले एक दर्दनाक परंपरा का शिकार बन गई थीं। जब सामाजिक रूढ़ि के नाम पर यह जुल्म हो रहा था, तब वहां आधुनिक चिकित्सा पद्धति की सर्जरी संबंधी सावधानी बरतने का सवाल ही कहां उठता था? बलदेह को यह भी कहां पता था कि इस अमानवीय कृत्य को अलग-अलग उपकरण से अंजाम दिया गया है या इसके लिए एक ही उपकरण इस्तेमाल किया गया? उन सभी लड़कियों को अगले दो हफ्ते तक एक अंधेरी कोठरी में रखा गया। हर रोज सुबह एक पैन में गरम पानी में नमक व जड़ी-बूटियां डालकर उस पर बैठने को कहा जाता। बहुत पीड़ा होती। सात-आठ वर्ष की लड़कियां रोती-कलपती, पनाह मांगती रहीं, मगर उन्हें यह समझाया जाता कि इससे उनको कोई संक्रमण नहीं होगा।

इन पंद्रह दिनों में बलदेह और दूसरी लड़कियों को औरतों द्वारा गाए जाने वाले पारंपरिक गीत सिखाए गए और महिलाओं के क्या-क्या फर्ज होते हैं, उनकी सीख दी गई। जब उनके जख्म भर गए, तब इन लड़कियों के लिए एक बड़ा सा समारोह आयोजित किया गया और नाते-रिश्तेदारों ने उन्हें उपहारों से लाद दिया। शायद इस रवायत के पीछे यह सोच

रही हो कि बच्चियां तोहफे पाकर अपनी तकलीफें भूल जाएंगी। मगर बलदेह उस दर्द को भुला न सकीं, बल्कि उनके भीतर इस परंपरा की वैज्ञानिकता परखने की चाह बलवती होती गई।

हाई स्कूल की पढ़ाई पूरी करने के बाद बलदेह को लंदन के सिटी कॉलेज, बर्मिंघम में पढ़ने का मौका मिला। बचपन से पत्रकार बनने की चाह रखने वाली युवती ने नर्सिंग की पढ़ाई करने का फैसला किया, ताकि वह अपने देश की महिलाओं के लिए कुछ कर सके। सिटी कॉलेज ने वृल्वरहैंपटन यूनिवर्सिटी का उनका रास्ता आसान कर दिया, जहां से उन्होंने मनोविज्ञान एवं स्वास्थ्य अध्ययन में बीएससी की डिग्री हासिल की। उन्हें लंदन में भी नौकरी के मौके मिल रहे थे, मगर बलदेह ने गांबिया लौटने का फैसला किया।

गांबिया लौटते हो यूनिसेफ में नौकरी मिल गई। उनका काम ग्रामीण लड़कियों को स्कूल जाने के लिए प्रेरित करना था। इसके लिए बलदेह गांव-गांव भटकतीं। इस नौकरी ने गांबियाई महिलाओं और बच्चों की वास्तविक स्थिति से उन्हें अवगत कराया। करीब साल भर की नौकरी के बाद स्वास्थ्य क्षेत्र के और गहन अध्ययन के लिए बलदेह एक बार फिर लंदन लौटी और उन्होंने क्वीन माडेंट यूनिवर्सिटी से 'सेक्सुअल रिप्रोडक्टिव हेल्थ' में मास्टर्स की डिग्री हासिल की। यह उपलब्धि उन्हें एक नई ऊंचाई पर ले गई। इस कोर्स के दौरान ही उन्हें महिला जननांग विच्छेदन (एफजीएम) के स्वास्थ्य पर बाद में पड़ने वाले प्रतिकूल असर का पता चला। इस अध्ययन की बदौलत उनकी अंतरराष्ट्रीय पहचान बनी।

बलदेह के सामने अब शीशे की तरह साफ था कि जब तक गांबियाई लड़कियां पर्याप्त शिक्षित नहीं होंगी, उनमे

आत्मविश्वास नहीं पैदा होगा; तब तक वे नेतृत्व की हैसियत में नहीं आ सकेंगी और रूढ़ियों से उन्हें छुटकारा दिलाना भी मुश्किल होगा। बलदेह के पति ने हर कदम पर साथ निभाने का वादा किया। लिहाजा, साल 2018 में उन्होंने 'वुमेन इन लिबरेशन ऐंड लीडरशिप' (विल) की नींव रखी और इस संस्था के साये तले गांबियाई बच्चियों व महिलाओं को खास तौर पर एफजीएम के बारे में जागरूक करना शुरू कर दिया।

जमीनी स्तर पर उनकी मुहिम का व्यापक असर दिखने लगा, खासकर स्कॉटलैंड प्रवास के दौरान अश्वेत महिलाओं में उनके जन-जागरण अभियान की प्रभावशीलता को देखते हुए साल 2019 में उन्हें 'मेंबर ऑफ ब्रिटिश अंपायर' की उपाधि दी गई। उसके अगले वर्ष उन्हें अपने देश ने भी सम्मानित किया। पिछले साल बाइडन प्रशासन ने फाटू बलदेह को दुनिया की 12 सबसे साहसी महिलाओं में शुमार किया, तो प्रतिष्ठित टाइम पत्रिका ने उन्हें इस साल 'वुमेन ऑफ द ईयर' के लिए नामित किया है। बलदेह अपने देश की बेटियों को प्रेरित कर रही हैं- शिक्षित बनो, अपनी ताकत पहचानो, क्योंकि तुम्हारे अंदर अपने देश को आगे ले जाने की पूरी काबिलियत है।

**चिरांग के इस चिराग की खेती से रोशन जिंदगीः** विशाल आबादी वाले हिन्दुस्तान में, जहां दशकों से किसानों और किसानी को दुर्दशा की कहानियां मुख्यधारा के मीडिया में छाई रही हों, जहां रोज-रोज यह लेखा-जोखा रखा जा रहा हो कि कहां-कहां और कितने किसानों ने खुदकुशी की, वहां सर्वेश्वर बसुमतारी जैसे किसानों की संघर्ष-गाथा सचमुच बहुत प्रेरक है और मोदी सरकार ने ऐसे कर्मयोगी को पद्मश्री से सम्मानित

करके वाकई सराहनीय कार्य किया। यह सम्मान उन तमाम किसानों का है, जिन्होने कठिन से कठिन, बल्कि विपरीत परिस्थितियों में भी उम्मीद का दामन नहीं छोड़ा और समाज में एक मिसाल कायम की।

असम के चिरांग जिले में लगभग 63 साल पहले पैदा हुए सर्वेश्वर के पिता एक दिहाड़ी मजदूर थे। माता-पिता, दोनों स्थानीय भूपतियों के खेतों और घरों में कामकाज करके अपने पांच बेटे और तीन बेटियों का भरण-पोषण करने की कोशिश करते। मगर दस लोगों की भूख मिटाने में उनकी कमाई अक्सर कम पड़ जाती। कई बार जब पिता को कहीं काम नहीं मिलता, तो घर में फाकाकशी का आलम रहता। फिर जंगली कंद-मूल या दूसरों के रहमो-करम पर ही निर्भर रहना पड़ता। दरअसल, यह सिर्फ सर्वेश्वर के परिवार की कहानी नहीं थी, बल्कि उस पिछड़े इलाके के कई परिवारों का यही हाल था। उनका गांव जंगल से सटा हुआ था, इसलिए जो लोग थोड़ा-बहुत कुछ बोते भी, जंगली जीव उसे तहस-नहस कर डालते थे। लिहाजा, वन देवता के आसरे ही उनकी जिंदगी कटती।

जहां संघर्ष दो वक्त के निवाले का हो, वहां पढ़ाई-लिखाई की कहां गुंजाइश होती है। सर्वेश्वर ने जैसे-तैसे पांचवीं तक की पढ़ाई पूरी की। उसके आगे स्कूल जाना संभव न रहा। उन दिनों पूरे बोडोलैंड इलाके में उग्रवाद बढ़ता जा रहा था, जिसके कारण सारे सरकारी विकास कार्य ठप पड़ गए थे। काम होता, तो स्थानीय लोगों को आसानी से मजदूरी मिल जाती। सर्वेश्वर अपने माता-पिता की उदासी देखते, तो मन में गहरी टीस उठती कि काश वह उनकी कोई मदद कर पाते। वह अभी

तेरह साल के ही थे, मगर गरीबी ने उन्हें काफी सयाना बना दिया था। पिता के काफी हाथ-पैर मारने के बाद वन विभाग के स्थानीय गार्ड के दफ्तर में सर्वेश्वर को सेवादार की नौकरी मिल गई।

काम करते हुए एक साल बीत चला था और गार्ड साहब भी सर्वेश्वर के आचरण से पूरी तरह मुत्मईन हो चुके थे। एक दिन उन्होंने उनसे कहा, 'अब तुम्हें बोकाखाट में मेरे घर पर ड्यूटी देनी होगी।' बोकाखाट सर्वेश्वर के गांव से करीब 200 किलोमीटर दूर एक छोटा सा शहर है। वह अब तक कभी अपने गांव से दूर नहीं गए थे। मगर कुछ शहर देखने की ललक और कुछ बेहतर मौके की तलाश ने उन्हें बोकाखाट पहुंचा दिया। शहर आने पर सर्वेश्वर को तालीम की कमी शिद्दत से महसूस हुई। मगर उनके पास पीछे मुड़कर देखने का वक्त नहीं था। अब तो बस यही हसरत थी कि किसी तरह माता-पिता की कुछ माली मदद हो सके। गार्ड साहब के यहां हरवाहे का काम करना पड़ता, मगर इसके बदले में जो मिलता, उससे बस पेट भर रहा था।

किसी ने सर्वेश्वर से कहा कि मेघालय में एक कोयला खदान है। वहां अगर उन्होंने काम किया, तो शायद वह अपने माता-पिता की आर्थिक मदद करने की हैसियत में आ जाएं! सर्वेश्वर मेघालय पहुंच गए। काम भी मिल गया। मगर रोज के तीन रुपये मजदूरी में मिलते। उनमें उनका अपना काम तो चल जाता, मगर माता-पिता को भेजने के लिए कुछ भी नहीं बचता था। इस छोटी सी उम्र में मिले बड़े अनुभव ने सर्वेश्वर को स्पष्ट कर दिया था कि दिहाड़ी मजदूरी से हालात नहीं बदले जा सकते। लिहाजा, 1984 में वह वापस गांव लौट आए।

बाईस साल के सर्वेश्वर के सामने अपना लक्ष्य बिल्कुल स्पष्ट था- अब जो भी हासिल करना करना है, इसी माटी में खेती-किसानी से करना है। शुरू में उन्होंने वन-भूमि पर ही खेती की, कुछ बाधाएं आईं, तो फिर भूटियापारा के भूमालिकों से जमीन लीज पर लेकर खेती शुरू कर दी। थोड़ा-बहुत मुनाफा होता, तो वह जमा करते जाते, क्योंकि उनके भीतर बचपन का एक सपना अब ठोस आकार लेने लगा था। सर्वेश्वर के माता-पिता ने तो सपने में भी नहीं सोचा था कि उनकी मिल्कियत में कभी कोई भूखंड आएगा। मगर बमुश्किल एक दशक के भीतर 1995 में सर्वेश्वर ने उन्हें यह सुख दिया और वह भी खेती की बदौलत।

शुरू-शुरू में सर्वेश्वर पारंपरिक तरीके से खेती करते थे। मगर सन् 1996 में बिजनी कृषि कार्यालय में आयोजित कार्यशाला ने उनकी किसानी को एक नई दिशा दे दी। कृषि अधिकारियों के निर्देशन में सर्वेश्वर ने केले, नारंगी और अनानास उगाए। उत्पादन में जबर्दस्त बढ़ोतरी हुई। इसके बाद फिर उन्होंने पीछे मुड़कर नहीं देखा, बल्कि वह स्थानीय बेरोजगार नौजवानों को कृषि प्रशिक्षण देने लगे। दिन बहुर गए ये, मगर चूंकि कुनबा बड़ा था और उसका विस्तार होता जा रहा था, तो उसी अनुपात में आय बढ़ाने की भी जरूरत महसूस हुई। लिहाजा, उन्होंने मछली पालन का प्रशिक्षण प्राप्त किया। कृषि वैज्ञानिकों से संवाद-संपर्क करके सर्वेश्वर तीन-चार तरह की फसलें उगाने लगे। जबर्दस्त मुनाफा होने लगा। आज उनके पास नौ एकड़ अपनी ही जमीन जमीन है है। और साथ ही 15-16 एकड़ खेत लीज पर लेकर वह किसानी करते हैं। इस एकीकृत कृषि में पारंपरिक फसलों के अलावा फल-सब्जियां

उगाई जा रही हैं, मछली पालन हो रहा है और पशुपालन से भी भरपुर कमाई हो रही है। कुछ नया और उन्नत सीखने की चाह में सर्वेश्वर देश-विदेश के कई कृषि संस्थानों का दौरा कर चुके हैं। जब बोडोलैंड के बोडो युवा हाथों में हथियार लेकर मुक्ति तलाश रहे थे, तब सर्वेश्वर बसुमतारी ने उन्हें यह दिखाई कि असली मुक्ति तो माटी की सेवा में है। इसलिए असम सरकार ने उचित ही उन्हें 'असम गौरव' सम्मान से और केंद्र ने पद्मश्री से नवाजा !

**पिता ने समझाया था, शिक्षा ही तुमको सुपात्र बनाएगीः** इस विज्ञान शिक्षक को आज केन्या, बल्कि अफ्रीका के प्रेरणादायी व्यक्तित्वों में गिना जाता है। पीटर आज केन्या के सबसे ज्यादा चाहे, सराहे और स्मृतियों में सहेजे जाने वाले शिक्षक हैं। कई अनाथ छात्रों के वह अभिभावक हैं, तो बाकी बच्चों के लिए सहोदर भाई से भी करीबी मित्र !

केन्या उन चंद अफ्रीकी देशों में से एक है, जिन्होंने तरक्की की सही राह पहचान ली है। इसकी 40 फीसदी आबादी गरीबी-रेखा के नीचे गुजर-बसर करती है, मगर साक्षरता में इसने एक ऊंचा मकाम हासिल किया है। पंद्रह साल से ऊपर की इसकी 85 फीसदी पुरुष आबादी साक्षर हो चुकी है, तो वहीं महिलाओं में यह दर 80 प्रतिशत है और ऐसा क्यों न होता, जब इसने पीटर मोकाया तबीची जैसे सपूतों को जन्म दिया है। एक ग्रामीण पृष्ठभूमि से निकले इस विज्ञान शिक्षक को आज अफ्रीका के सबसे प्रेरणादायी व्यक्तित्वों में गिना जाता है। पीटर को वर्षों पहले 'ग्लोबल टीचर प्राइज' से नवाजा जा चुका है।

तब यह सम्मान 179 देशों के 10000 श्रेष्ठ शिक्षकों में से सर्वश्रेष्ठ पीटर को दिया गया था।

आज से करीब 43 साल पहले केन्या के न्यामिरा काउंटी में पीटर पैदा हुए। पिता लॉरेन्स तबीची एक प्राथमिक शिक्षक थे और अपने समुदाय की भलाई के लिए हमेशा तत्पर रहा करते। पीटर ने छुटपन से उन्हें दूसरों के दुख में द्रवित होते और उनकी मदद करते देखा था। उनके चाचा और दूसरे कई परिजन भी शिक्षण-कार्य से जुड़े थे। दरअसल, तबीची परिवार बहुत पहले जान गया था कि गुरबत और जहालत से आजादी पाने का एक ही रास्ता है, जो स्कूल की तरफ जाता है।

उन दिनों शिक्षा हासिल करना बहुत आसान नहीं था। अव्वल तो अज्ञानता की भूख के मुकाबले पेट की भूख बाजी मार ले जाती और फिर स्कूल भी घर के आस-पास नहीं होते थे। पीटर को अपने स्कूल तक पहुंचने के लिए कई किलोमीटर की दूरी पैदल तय करनी पड़ती थी। मगर पिता पढ़ाई-लिखाई को लेकर बेहद गंभीर थे। अपनी संतानों को वह हमेशा प्रेरित करते कि सुपात्र बनने के लिए शिक्षा सबसे जरूरी चीज है। पीटर जब ग्यारह साल के थे, अचानक मां चल बसीं, पर पिता ने तमाम तकलीफें उठाकर अपने बच्चों की पढ़ाई बाधित नहीं होने दी। स्कूली शिक्षा के बाद पीटर ने एगर्टन यूनिवर्सिटी से विज्ञान एवं शिक्षा में स्नातक की डिग्री हासिल की और फिर जब उनके आगे अवसरों के दरवाजे खुले, तो पिता की सलाह पर उन्होंने पठन-पाठन को ही करियर बनाने का फैसला किया।

एक निजी स्कूल से शिक्षक का करियर शुरू करने वाले पीटर के भीतर कुछ दिनों बाद ईसाई मूल्यों को समझने की तीव्र चाह जगी, तो वह फ्रांसिस्कन ब्रदरहुड से जुड़े एक संस्थान पहुंच गए। वहां से अनिवार्य शिक्षा व उपाधि प्राप्त करने के बाद

साल 2011-12 में उन्होंने अपनी पहली प्रतिज्ञा ली। इसके बाद फ्रांसिस फादर शिक्षक के रूप में उन्हें युगांडा भेजा गया। करीब एक साल तक वहां पढ़ाने के बाद पीटर को केन्या में नाकुरु स्थित सेंट फ्रांसिस सेकेंडरी स्कूल में बतौर डीन नियुक्ति मिली। यहां वह बच्चों को गणित और विज्ञान पढ़ाने लगे। फिर 2015 में उनके हिस्से वह जिम्मेदारी आई, जिसने उनका कायातंरण कर दिया।

पीटर का तबादला रिफ्ट वैली के पवानी गांव स्थित केरिको मिक्स्ड डे सेकेंडरी स्कूल में कर दिया गया। इस स्कूल में सुविधाओं की भारी कमी थी। केवल एक कंप्यूटर था, इंटरनेट की सुविधा खराब थी, 58 बच्चों पर एक शिक्षक का अनुपात था। ट्रांसपोर्ट की कोई सुविधा न थी। काफी सारे बच्चे सात किलोमीटर पैदल चलकर स्कूल पहुंचते थे। दूसरी तरफ, शुष्क भौगोलिक स्थिति के कारण इस इलाके में अक्सर अकाल की स्थिति बन आती, गरीबी व भुखमरी ने मानो वहां स्थायी डेरा जमा रखा था। स्कूल के 95 फीसदी बच्चे बेहद गरीब पृष्ठभूमि के थे। एक तिहाई बिल्कुल अनाथ थे या फिर मां और पिता में से कोई एक ही उनका पालन-पोषण कर रहा था। कई बच्चे स्कूल से भूखे पेट लौटते, क्योंकि उन्हें घर से टिफिन नहीं मिलता। पीटर ने गौर किया कि पढ़ाई बीच में छोड़ने वालों की संख्या कम नहीं है। हालात के अध्ययन से गरीबी के अलावा कुछ और कारणों का खुलासा हुआ। नशाखोरी, बाल-विवाह और किशोरावस्था में मां बनने जैसी कुरीतियां बड़ी संख्या में किशोर-किशोरियों को खुदकुशी की ओर ले जाती थीं।

फ्रांसिस्कन फ्रायर पीटर पहले ही आजीवन अविवाहित रहने का प्रण ले चुके थे। वह इन बच्चों को यूं तिल-तिल घुटते-

मरते नहीं देख पा रहे थे। बच्चों को बुनियादी सुविधाएं मिल सके और पढ़ने-लिखने लायक माहौल बने, इसके लिए उन्होंने अपनी तनख्वाह की 80 प्रतिशत राशि इन बच्चों पर खर्च करनी शुरू कर दी। पीटर और उनके चार सहयोगी स्कूली कक्षा के बाद एक-एक अनाथ, गरीब बच्चे को गणित और विज्ञान का ट्यूशन देने लगे। इसमें वे सूचना प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल करने लगे। छुट्टी के दिन पीटर खुद उन बच्चों के घर जाते, उनके अभिभावकों से मिलते, उनकी समस्याओं को समझते और उनमें आत्म-सम्मान का भाव भरते।

चमत्कार हुआ। अगले तीन सालों में स्कूल में दाखिला लेने वाले बच्चों की संख्या दोगुनी हो गई, अनुशासनहीनता के मामलों में नाटकीय गिरावट आई। पीटर ने स्कूल के विज्ञान क्लब का विस्तार किया। यहां के बच्चे गणित और विज्ञान में राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय स्तरको प्रतियोगिताओं के लिए चुने जाने लगे। अब तो दर्जनों बच्चे यूनिवर्सिटी तक पहुंचने लगे हैं और सभी परीक्षाओं में लड़कियां लड़कों से आगे निकलने लगी हैं। पीटर ने स्थानीय जलवायु के अनुरूप वनस्पति उगाने के लिए स्थानीय लोगों को तैयार किया है। निजी-सार्वजनिक सहयोग से उन्हेंनि अपने विद्यालय में तमाम आधुनिक सुविधाएं जुटाई है, ताकि इलाके का कोई बच्चा अब कभी अज्ञानता व भूख का शिकार न बन सके। 'ग्लोबल टीचर प्राइम' के तहत मिली साढ़े आठ करोड़ रुपये से अधिक की इनाम राशि भी उन्होंने बच्चों की शिक्षा के नाम कर दी थी।

इस विज्ञान शिक्षक को आज केन्या, बल्कि अफ्रीका के प्रेरणादायी व्यक्तित्वों में गिना जाता है। पीटर आज केन्या के सबसे ज्यादा चाहे, सराहे और स्मृतियों में सहेजे जाने वाले

शिक्षक हैं। कई अनाथ छात्रों के वह अभिभावक हैं, तो बाकी बच्चों के लिए सहोदर भाई से भी करीबी मित्र !

**बेंगलुरु से लगाव ने उन्हें पर्यावरण प्रेमी बना दियाः** दुनिया का अमूमन हर कोना कोलाहल में डूबा हुआ है। कहीं साम्राज्यवादी ताकतों की आक्रामकता से मानवता कराह रही, तो कहीं अंदरूनी वर्चस्व की लड़ाई ने उसे लहूलुहान कर रखा है, मगर इन सबके बीच भी अरबों अमनपसंद लोग उम्मीद का दामन थामे जी रहे हैं, क्योंकि हमारे बीच कपिल शर्मा जैसे लोग हैं, जो बगैर कोई शोर-शराबा किए बिना किसी इनाम और दाम की कामना के इस दुनिया को हरा-भरा, रहने लायक बनाने में जुटे हैं। दरअसल, वे जानते हैं कि धरती के हर इंसान के हिस्से में कम ही वक्त मुकर्रर है और इसी में हमें अपने होने को मानीखेज बनाना है।

कपिल जब पैदा हुए, तब रायपुर मध्य प्रदेश का हिस्सा हुआ करता था, हालांकि उनकी किशोरावस्था तक वह छत्तीसगढ़ की राजधानी बन चुका था। शहर के प्रतिष्ठित सेंट जेवियर्स स्कूल से उनकी हाईस्कूल तक की पढ़ाई-लिखाई हुई। बचपन से ही इंजीनियर बनने का सपना देखने वाले कपिल को साल 2001 में प्रवेश परीक्षा देने के लिए बेंगलुरु जाना था। लगभग 1,400 किलोमीटर दूर बसे इस महानगर को लेकर उनके मन में उत्सुकता और उलझनें, दोनों थीं। पता नहीं, कैसा शहर होगा? कहां रुकेंगे? कैसे परीक्षा केंद्र तक पहुंचेंगे परीक्षा केंद्र पर किस तरह की व्यवस्थाएं होगी?

पूरे रास्ते किताबों में उलझे कपिल जब पहली बार बेंगलुरु रेलवे स्टेशन से बाहर निकले, तो सड़कों की दोनों तरफ करीने से खड़े पेड़ों को कतारों ने उनका मन मोह लिया। शहर की कोई सड़क ऐसी नहीं दिखी, जो पेड़ों से आच्छादित न हो। जिस कक्षा में वह परीक्षा देने बैठे, उसमें कोई पंखा नहीं था। उन्हें अचरज हुआ। मगर बेंगलुरु की आबोहवा ही ऐसी थी। रायपुर में तो माता-पिता को अक्सर यही कहते सुना था कि आज तापमान 46-47 डिग्री तक पहुंचेगा। दोपहर में वहां की सड़कें सुनी पड़ जातीं, क्योंकि लोग बाहर निकलने से कतराते थे। मगर बेंगलुरु की बात ही निराली थी, वहां तो फुहारें पड़ रही थीं और गरमी का दूर-दूर तक कोई एहसास न था।

कपिल के दिल में एक चाह उठी काश, यहीं के किसी इंजीनियरिंग कॉलेज में दाखिला मिल जाता। उनकी चाहत पूरी हुई। वह प्रवेश परीक्षा में कामयाब हो गए थे और उनका नया ठिकाना बना डॉ आंबेडकर इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी,बेंगलुरु। इसमें भी कपिल को अपना मनपसंद पाठ्यक्रम 'बैचलर ऑफ इंजीनियरिंग, कंप्यूटर साइंस ' मिल गया था। बेंगलुरु में रहते और पढ़ते हुए कपिल को उससे मोहब्बत होती चली गई। ऐसे में, इंजीनियरिंग के बाद जब आईटी कंपनी 'टोरी हैरिस बिजनेस सॉल्यूशन' ने इसी शहर में नौकरी का प्रस्ताव दिया, तो उनकी खुशी का ठिकाना नहीं रहा।

मगर 2004-05 से बेंगलुरु में एक ऐसी बात होने लगी थी, जो कपिल को कचोटती थी। दरअसल, मेट्रो, सड़कों के चौड़ीकरण और दूसरी विकास परियोजनाओं के लिए इस

महानगर में सैकड़ों साल पुराने, चालीस-चालीस फीट ऊंचे, घने पेड़ काटे जाने लगे थे। कपिल को बुरा तो लग रहा था, मगर वह समझ नहीं पा रहे थे कि किया क्या जाए? शहर का विस्तार और जन-सुविधाओं का विकास भी जरूरी था। पांच दिन तो उनके दफ्तर के काम में कट जाते, मगर शनिवार और रविवार को ज्यादा शिद्दत से महसूस होता कि बेंगलुरु को देश के दूसरे प्रदूषित शहरों सा बनने से बचाना चाहिए।

बेचैनी बढ़ी, तो कपिल ने शनिवार को संबंधित सरकारी दफ्तरों में अधिकारियों से मिलकर पूछना शुरू कर दिया कि एक नागरिक के नाते वह अपने प्यारे शहर के लिए क्या कर सकते हैं? काफी अफसरों और लोगों से मुलाकात के बाद कपिल को यही लगा कि उनके वश में यही है कि वह ज्यादा से ज्यादा पेड़ लगाएं। साल 2007 में अपने घर के बाहर बादाम का पौधा लगाकर उन्होंने अपनी मुहिम की शुरुआत की। इसे नाम दिया 'से ट्रीज'। बतौर इंजीनियर वह इस बात से वाकिफ थे कि संख्या के बजाय गुणवत्ता हमेशा ज्यादा अहम होती है। इसलिए इस बात को लेकर वह बहुत सजग रहे कि पौधों के पेड़ बनने तक उनकी देखभाल हो सके।

सरकारी वन विभाग के अधिकारियों और दूसरे अफसरों से उन्हें यह संकेत मिल ही चुका था कि सड़क किनारे के पेड़ों को भले काटा जा रहा हो, मगर बहुत सारे ऐसे स्थान खाली पड़े हैं, जहां नए पेड़ लगाए जा सकते हैं। कपिल सरकारी स्कूलों, अस्पतालों, पार्कों, झीलों के किनारे ऐसी जगहों की निशानदेही में जुट गए, जो सड़कों के चौड़ीकरण या किसी निर्माण-कार्य का कभी शिकार न हो सकती हों। कई

प्रकृति-प्रेमी स्वयंसेवी उनके साथ जुड़ने लगे थे। साल 2008 में उन्होंने शहर में 100 पौधे लगाए। मगर नौ से पांच की नौकरी के बाद कपिल के पास बहुत कम वक्त बचता था और यह बात उन्हें परेशान करती रहती कि जिस रफ्तार में पेड़ कट रहे हैं, उनके मुकाबले तो सप्ताहांत में पौधे लगाने की दर कुछ भी नहीं।

कपिल ने लोगों और कॉरपोरेट सेक्टर से उनकी मुहिम से जुड़ने की अपील की। अपील सुनी गई। उनका कारवां बढ़ता गया। आज 25,000 से अधिक प्रकृति-प्रेमी और 400 से अधिक कॉरपोरेट पार्टनर 'से ट्रीज' से जुड़ चुके हैं। बीते डेढ़ दशक में इस संगठन ने बेंगलुरू समेत कई शहरों, गांवों में पचास लाख से अधिक महोगनी, आम, जामुन, नीम, गुलमोहर, कटहल, बादाम, नागलिंग, बांस जैसे फल एवं इमारती लकड़ी देने वाले पौधे लगाए हैं।' से ट्रीज' द्वारा लगाए गए 80 फीसदी पौधे पेड़ में तब्दील होते हैं। इस संस्था ने जल-संरक्षण में भी शानदार काम करते हुए देश की 50 से अधिक झीलों और 120 शहरी वनक्षेत्र को नया जीवन दिया है। कपिल शर्मा आज अमेरिका की प्रतिष्ठित वित्तीय कंपनी गोल्डमैन सैश में वाइस प्रेसिडेंट हैं। मगर उन्होंने 2007 में बेंगलुरु से मोहब्बत में जो मुहिम छेड़ी थी, वह अब हजारों शहरी लोगों व लाखों किसानों की जिंदगी के लिए परिवर्तनकारी पहल बन गई है।

# देश के रक्षक

## "Britain Got Talent" A TRUE STORY

(When they were 18 years old, they often practiced piano together at school. They were badly injured by the atomic bomb in Hiroshima and thought each other were dead. Unexpectedly 70 years later, they found out by chance that they were still alive. )

They narrated on stage in Britain :

My name is HARUKI. I am 98 years old and this is AMIKOSATO my only friend left in this world. Tonight you are not just hearing music, you are hearing memory, you are hearing ghosts. I was only 18 when the sky disappeared. August 6th 1945 we were in HEROSHIMA. Music students just children really, I played Violin she played the Piano. We were practicing in a class room together. We were supposed to perform a duet that afternoon at school a simple melody we had written together. We were innocent, gentle. It had nothing to do with war. I had spent weeks building up the courage to tell her "I LOVE HER" but before I ever could the sun fell from the sky. There was no warning, no sound just a white light so bright. It felt like we had been erased and did not exist anymore. I remember opening my eyes and not understanding what I was seeing. I thought I had died, everyone I knew gone. I

was buried for hours they pulled me out, my hands were burnt, my left eye blind, my Violin case splintered like firewood. I never saw Amiko again or so I thought. I spent the next seventy years believing she had died with the others. I never married, I never played Violin again. Every note reminded of the life we lost of what I did not say. Seven years ago a letter arrived, a survivor's organisation in Japan reached out and said someone named Amikosato had asked if I was still alive. I cried for three hours before I could even call her. We met in silent; there were no words that could reach between us. She had survived too. She had burn down her spine, lost her parents, her baby brother. She thought I was dead too. We sat on a bench just two old people broken by history and then I said do you remember the song. She smiled, A tiny smile and said yes I never forgot the song, so we played. We have not touched our instruments in decades. Our hands did not move the way they used to. The music came like a raver after the draught. We are not here tonight to impress anyone. We don't have long left on the earth. What you are about to hear is the song we were meant to play eighty years ago. The song of two children who never got to say "GOOD BYE". A lullaby ( A good song) for the dead, a prayer for peace. We play tonight for the once who did not make it out of the rubble and for the little versions of ourselves that never got to grow up. Thank you for letting us share our last song.

(At the age of 98, they play this music together, which they played together when they were young. Piano and Violin express their love for each other. Really

touching/ The judges and the audiences cry throughout the performance. )

## Year- 1959, Place - Amritsar.

Some Indian army officers and their wives went to railway station to see off one of their colleagues. Some goons made lewd remarks against the woman and tried to mole- state them. The army officer chased the goons who take shelter in a nearby cinema theatre.

The matter was reported to commanding officer KARNAL Jyothi Mohan Sen. On learning about the incident, the col. ordered the cinema hall to be surrounded by troops. All the goons were dragged out. The leader of the goons was so heady and drunk with power. He was none other than the son of Chief Minister of Punjab Sri Pratap Singh Kairon, the close associate of the then Prime minister Sri Jawahar Lal Nehru.

All the goons were stripped to their underwear, paraded in the streets of Amritsar and later retained in the cantonment. Next day the chief minister became furious and tried to release his son from Indian army's incarnation. Then what happened! He moved to cantonment but chief minister's vehicle was not allowed to go into the cantonment as VIP vehicle. He was compelled to walk all the way to meet the cornel. The infuriated chief minister, Kairon complained about the whole affair to PM Nehru. The perplexed, so called Bharat Ratna PM Nehru instead of questioning his confidante Kairon, sought explanation from the army chief, General Thimmayya for the conduct of his officers. The reply was "If we can not defend the honour of our women, how can you expect us to defend the honour of our country?"That was the story of a brave soldier who defied the PM.

This article was contributed by Maj. Gen. Dhrub C. Katoch in the magazine." Salute to the Indian Soldier"

## The holiday assignment given by a school in CHENNAI to its students.

They wrote :

Respected Parents,

We enjoyed taking care of your children for the last ten months. You must have noticed that they love coming school. It is only because we love your children and they love books and friends. The next two months will be spent with their natural protector i.e. you mother and father. Here are some tips so that this time proves useful and happy for them.

"Eat meals with children at least twice." Tell them importance of every seed of grain, farmers and their hard work. Tell them not to waste food. Let them wash their own plates after every eating. Through such work they will understand the value of cleanliness and work."

Let them help you in cooking, home work. If possible ask them to prepare vegetable or salad.

Go to at least three neighbour's house. Learn about them and grow closer.

Go to grandparent's house and let them mingle.

Being a parent your eyes must have become moist after reading this. The reason is clear that your children are really away from all these things. Every word written in this assignment tells us that when we were young all these things were part of our lifestyle with which we grew up but today our children are away from all these things due to which ourselves are.

Remember, reading this makes one realize where we have actually arrived and what are we giving to our children? School has given home work not for children but for parents, which every parent must read with their children. Their love and emotional support is very important for your children.

Take them to your work place so that they can understand how hard you work for your family and value for money.

- Enjoy festival and local market.
- Motivate your children to sow seeds to create a kitchen garden. Knowing trees and plants is also important for the development of a child.
- Tell children about your childhood and family history.
- Let your children go out and play, let them get hurt, got dirty. It is good for them to fall occasionally and endure pain. A life of comfort like sofa, cushion will make your children lazy.
- Play them with folk dances, songs and music.
- Bring some story books with colourful pictures for your children.
- Keep them away from TV, Mobile Phone, computer or any such electronic gudgets. He/ She had to spend whole life with all these.
- Avoid giving them chocolates, Jellies, Cream cakes, Chips, Aerated drinks, bakery products like puffs and fried foods.
- Look into the health of your children and thank god for giving you such a wonderful gift. In the coming year from now they will be at new heights.

- As a parent it is important that you give your time to your children.

The biggest communication problem is we do not listen to understand rather we listen to reply. – Stephen. R. Covey -

## NATU LA Altitude 14140 FT

Unwavering Valor : Indian Army's Triumph At Nathu La 1967

In the high altitude terrain of the Himalayas, the Indian army showcased its unwavering valor and unshakeable resolve in the face of adversity. The Nathu La border skirmish of 1967 stands as a testament to the bravery, sacrifice and patriotism of India's soldiers. On 11th September 1967, Chinese forces attempted to assert their dominance over the strategically crucial Nathu La Pass, which connects Sikkim to Tibet. However, the Indian Army led by the fearless Major General Sagat singh, stood firm against the Chinese aggression. Despite being outnumbered and outgunned, the Indian Soldiers from two Grenadiers, eighteen Rajput ( Now 13 mechanize Infantry) and seventy Field Company led by Lt Col Rai Singh, Commanding officer, two grenadiers held their ground, repelling wave after wave of Chinese attacks. The bravery displayed by the Indian Army was exemplified by the iconic act of Major Harbhajan Singh of 18 Rajput and Capt P S Dagar of 2 Grendiers, who single- handadly destroyed Chinese Machine Gun Bunkers, paving the way for the Indian counter attack. While doing so they made the Supreme Sacrifice for the nation and were awarded with Mahavir Chakra (Posthumously) and Vir Chakra (Posthumously), nation second and third highest gallantry award respectively.

During the five day skirmish the Indian Army suffered a casualties of 65 and inflicted 385 recorded Chinese casualties. The skirmish ended on 15th September with the Chinese bringing white flag to Natu La asking for unilateral ceasefire. The Natu La skirmish marked a decisive victory for the Indian Army, as the Chinese forces were forced to retreat. This triumph not only demonstrated India's military prowess but also sent a strong message to the world about the country's commitment to defending its sovereignty and territorial integrity. The Indian Army's heroics at Natu La continue to inspire generations of soldiers and citizens alike. Their unwavering valor, unshakable resolve, and ultimate sacrifice will forever be etched in the annals of Indian Military history.

**मेजर सगत सिंह- एक गुमनाम नायकः** 16 दिसंबर को सन् 2025 से 54 साल पहले ढाका में हजारों पाकिस्तानी सैनिकों ने भारतीय सेना के समक्ष हथियार डाल दिए थे। इस दिन हम विजय दिवस मनाते हैं, इसी दिन बांग्लादेश का उदय हुआ और पाकिस्तान का सदा सर्वदा के लिए विखंडन। यह सिर्फ दुनिया के नक्शे पर एक नए देश का उदय भर नहीं था, बल्कि जिन्ना के द्वि-राष्ट्रवाद की भी धज्जियां सिर्फ 24 वर्षों के अदना अंतराल में उड़ गई थीं। इसी के साथ तय हो गया था कि धर्म किसी देश के विभाजन का आधार तो बन सकता है, परंतु उसके स्थायित्व की गारंटी नहीं !

इस महान सैन्य उपलब्धि के लिए आप किसे याद करना चाहेंगे? जनरल सैम मानेकशॉ, लेफ्टिनेंट जनरल जगजीत सिंह अरोड़ा, लेफ्टिनेंट जनरल जेएफआर जैकब या

तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी को ? उस समय देश के रक्षा मंत्री कौन थे? भारतीय थल सेना का वह जनरल कौन था, जिसने सैन्य मुख्यालय के हुक्म को नजरअंदाज कर पाक कमांडर जनरल ए के नियाजी को इतनी जल्दी हथियार डालने पर विवश कर दिया था? गुमनाम गाथाओं और उन्हें गढ़ने वाली शख्सियतों की यह श्रृंखला इतिहास की अबूझ त्रासदी को उजागर करती है। इतिहास की इस रतौंधी के चलते तमाम गौरव-गाथाएं काल की तहों में दबती चली जाती हैं। यहां मैं आदरपूर्वक लेफ्टिनेंट जनरल सगत सिंह को याद करना चाहूंगा। सगत सिंह न होते, तो यकीनन यह युद्ध लंबा खिंच जाता, लेकिन अफसोस, बहुत कम लोग उनके बारे में जानते हैं। वजह? उन्होंने नाम के बजाय हमेशा काम को तरजीह दी।

मेजर संगत सिंह ने 1962 में जाति और अप्रत्याशितता का इस्तेमाल कर गोवा में फतह किया था। इसी वर्ष 1962 में चीन से शर्मनाक हार के बाद भारतीय सेना हताशा का शिकार हुई थी। उसी समय सगत सिंह वहाँ कमांडर बनकर पहुँचे। नाथुला पास में दिसंबर 1962 में फिर से झड़प हुई और भारत को जीत हासिल हुई। उन्होंने हमेशा जीत को तरजीह दी।

ऑपरेशन मेघना में भाग लेने वाले स्क्वाड्रन लीडर पुष्प वेद और मेजर चनूकांत सिंह ने अपनी किताबों एम. आई 4 एस एट वार और मेघना में इसका विस्तार से वर्णन किया है। सगत सिंह भारतीय इतिहास के अनूठे जनरल है। वह भारतीय सेना के आठवीं जनरल है जो तीन अलग-अलग विदेशी फौजो से लड़े। उनकी वीरता, शौर्य और हर हाल में युद्ध जीतने की ललक का यह अद्भुत उदाहरण है। इसके बाबजूद खुद उन्हें वह

ख्याति नहीं मिली और सम्मान नहीं दिया गया जिसके वह हकदार थे।

पुरानी कहावत है, काल-गाथाएं वही दर्ज करती हैं, जो उनको दिखाया जाता है।

## Baba Harbhajan Shrine – A Brief History

Baba Harbhajan was born on 30th August 1946 at village " SADRANA" of district GUJRANWALA ( Presently in Pakistan). On 9th February 1966 he got enrolled into Punjab Regiment of Indian Army as a Sepoy. Serving with 23 Punjab in east Sikkim till 1968. Babaji expired on 04th October 1968 while escorting a mule column from TUKU LA to DONGCHU LA.The death occurred when he slipped and fell into a NULLAH. The fast current carried the body for two kilometer from the site of the accident.

It is widely believed that Sepoy Harbhajan Singh appeared in the dreams of a colleague and requested for his "SAMADHI"to be constructed. The unit, in keeping with the belief constructed a 'SAMADHI' approximately nine kms from the present site. For the convenience of the visitors. The NEW BABA MANDIR was constructed at the present location on 11th November 1982. There is a belief that water kept at BABA HARBHAJAN SHRINE and later consumed by the ailment person cures him. Therefore devotees place bottle of water in the name of the ailing person and later take it away . This blessed water has to be consumed over a period of twenty one days and no member of the family is supposed to consume any non- vegetarian food during this period.

To impeccable and innocent man, to the faultless being whoever offends, Like dust thrown against the wind shall return to the foolish his sin thus returned - Budha

## BHUTAN TAKIN : An animal from Bhutanese mythology

The TAKIN, known locally as " DRONG GIMTSE" is Bhutan's national animal which has an interesting origin story. According to the folklore, its creation is attributed to the eccentric antics of one of Bhutan's most renowned saint LAMA DRUKPA KUENLAY (1455- 1529), also known as the " DIVINE MADMAN".

Legend has it that during a gathering in SHA SAMTENGANG, in WANG DUEPHODRANG DZONGKHAG. Lama Drkupa was urged by his devotees to perform a miracle to prove his divine powers. In response, the LAMA asked for a feast to be served to him. He specifically asked that the feast include a whole cow and a whole goat. Lama devoured both animals, leaving only their bones. With the bones, he fashioned a creature by attaching the goat's skull to the cow's skeletal remains. With his supernatural powers the LAMA brought the assembled bones to life and commanded the creature to roam the mountain and graze. The resulting creature was the TAKIN, a truly magical looking animal that combines the feature of both goat and cow.

**The four harmonious friends is a popular story in Bhutan. We can find the story all over Bhutan like**

**Monasteries' Walls and even in hotels and restaurants. The story speaks :**

There were four friends, animals (elephant, rabbit, monkey) and a bird. They are trying to figure out who is oldest among them. The elephant says the tree was small when it was a baby elephant. The monkey says the tree was tiny when it was baby monkey. The rabbit says the tree only had flowers when it was young and the bird says it helped the tree grow by dropping the seeds. By talking about this, they figure out that the bird is the oldest then the rabbit then the monkey and finally the elephant. After this everything goes back to being peaceful among them. The story teaches about respecting elders like in Confucianism. It also teaches us to see how the animals and birds work together by dropping seeds by bird, the rabbit helps by digging, the monkey and the elephant team up to get fruits. They succeed because each one does their part.

The story also show different qualities of life being strong like elephant, smart like monkey, caring like rabbit and having vision like a bird. It is not just about physical things but also about deeper meaning. In Bhutan the story have a big impact, which teaches people to get along with others, respect nature, and come together as a community no matter our differences.